

---

---

अध्याय-1

ज्ञान और कर्म का महत्त्व

---

---

## योग वाशिष्ठ दर्शन

इस ग्रंथ का आरम्भ एक आख्यान से होता है। कोई ब्राह्मण महर्षि अगस्त्य के आश्रम में पहुँचा और उसने प्रश्न किया कि ज्ञान अथवा कर्म में से मोक्ष साधन का प्रत्यक्ष कारण क्या है? अगस्त्य ने उत्तर दिया कि जिस प्रकार पक्षी अपने दो पंखों के सहारे उड़ता है, उसी प्रकार मनुष्य केवल ज्ञान और कर्म के द्वारा ही 'परमपद' को प्राप्त कर सकता है।

अगस्त्य एक ऋषि थे, जिन्होंने ऋग्वेद की कई ऋचाओं की रचना की थी।<sup>1</sup> उर्वशी के सौन्दर्य को देखकर मित्र और वरुण के स्खलन से इनकी और वाशिष्ठ की उत्पत्ति हुई थी।<sup>2</sup> भाष्यकार सायण के अनुसार इनकी उत्पत्ति पेड़ से हुई थी। इसीलिए इन्हें कुम्भज, कलसीसुत, कुर्म्मसम्भव और घटोद्भव आदि भी कहा जाता है।

महाभारत में अगस्त्य की पत्नी के सम्बन्ध में एक कथा आयी है। वस्तुतः वे विवाह नहीं करना चाहते थे किन्तु उन्होंने देखा कि उनके पितृव्य पुरुष एक गर्भ में अधोमुख लटक रहे हैं। अगस्त्य ने कारण पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया कि उनकी सद्गति अगस्त्य के वंशोत्पन्न से ही संभव है। इससे अगस्त्य ने इच्छा से एक सुन्दरी को उत्पन्न किया और उसे पुत्र कामना से तपस्या करने वाले विदर्भ राजा को समर्पित कर दिया और उन्होंने एक कन्या को उत्पन्न किया। इसी लोपामुद्रा नामक स्त्री से अगस्त्य ने अपना विवाह किया, जिससे उनके इदमवाहु मतान्तर से कवि वृद्धस्यु का जन्म हुआ और शिक्षा और दीक्षा प्राप्त करने के तत्पश्चात् सद्कर्मों के सहारे यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति की है और उससे अपने लक्ष्य को प्राप्त किया है। अब प्रश्न है कि ज्ञान क्या है? ज्ञान की यथार्थता एवं उसके स्वरूप सम्बन्धी अवधारणा को व्यक्त करते हुए एच.एम. भट्टाचार्य ने ठीक ही लिखा है कि "Now the science which investigates into the nature and conditions of correct knowledge is known as Epistemology."

## जीव में ज्ञान

ज्ञान को सर्वोच्च माना गया है। ज्ञान के कारण ही ब्राह्मणों को समाज में सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है। महाभारत में बतलाया गया है कि वेद-ज्ञान से शून्य और शास्त्र-ज्ञान से रहित ब्राह्मण काष्ठहस्ती या अचर्म भृगु या पुरुषत्वहीन अथवा पंखहीन पक्षी या अग्निहीन ग्राम अथवा जलरहित कुएं के सदृश माना जाता था। श्रीमद्भगवद्गीता में भी ज्ञान की श्रेष्ठता को दर्शाते हुए बतलाया गया है कि "न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विदन्ति।" (श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय-4, श्लोक-38वां) अर्थात् इस पृथ्वी पर ज्ञान से बड़ा कोई पवित्र कर्ता नहीं है। जगत गुरु शंकराचार्य ने भी बतलाया है कि "ज्ञान के समान पवित्र करने वाला, शुद्ध करने वाला इस लोक में (दूसरा कोई) नहीं है। कर्मयोग या समाधियोग द्वारा बहुत काल में भली प्रकार शुद्धान्तःकरण हुआ अर्थात् वैसी योग्यता को प्राप्त हुआ मुमुक्षु स्वयं अपनी आत्मा

में ही उस ज्ञान को पाता है यानी साक्षात् किया करता है। इसके पूर्व 36वां और 37वां श्लोक में उन्होंने बतलाया है कि यदि तू पाप करने वाला सब पापियों से अधिक पाप करने वाला अति पापी भी है तो भी ज्ञान रूपी नौका द्वारा अर्थात् ज्ञान को ही नौका बनाकर समस्त पापरूप समुद्र से अच्छी तरह से पार उतर जाएगा। यहां मुमुक्षु के लिए धर्म भी पाप ही कहा जाता है। फिर कहते हैं, जैसे अच्छी प्रकार से प्रदीप्त यानी प्रज्वलित हुआ अग्नि ईंधन को अर्थात् काष्ठ के समूह को भस्म कर देता है, वैसे ही ज्ञान रूप अग्नि सब कर्मों को भस्मरूप कर देता है अर्थात् निर्बीज कर देता है। यानी यथार्थ ज्ञान सब कर्मों को निर्बीज करने का हेतु है।<sup>3</sup>

अतः ज्ञान की श्रेष्ठता स्वतः सिद्ध हो जाती है। वस्तुतः सद्कर्म अथवा दुष्कर्म का बोध हो तो ज्ञान है और ज्ञानी दुष्कर्म करे ही क्यों? चूंकि ज्ञानी के जीवन में विषमता एवं संघर्ष का कोई महत्त्व नहीं रह जाता है, जैसे अगस्त्य वाल्मीकि एवं जनक (इन्हें विदेह भी कहा जाता है)। इन्होंने ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् भी लोक संग्रह अथवा लोककल्याण के लिए आजीवन प्रयत्नशील रहे हैं। इनकी दृष्टि में दर्शन जीवन और जगत् से सम्बन्धित होता है इसीलिए एच.एम. भट्टाचार्य ने लिखा है कि "Philosophy...as application of life and universe."<sup>4</sup> भारतीय दर्शन की उत्पत्ति आध्यात्मिक जीवन की जरूरतों की पूर्ति के लिये हुई है। एच.एम. भट्टाचार्य के शब्दों में "So in India philosophy arose from the deeper needs of spiritual life."<sup>5</sup> अब जहां तक लौकिक ज्ञान एवं अलौकिक ज्ञान के औचित्य का प्रश्न है, इस संबंध में यहां इतना बतला देना आवश्यक प्रतीत होता है कि सांसारिक जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए लौकिक ज्ञान की अनिवार्यता है किन्तु पारमार्थिक सत्ता को जानने के लिए अलौकिक ज्ञान की अनिवार्यता है। यूनानी दार्शनिक सुकरात और प्लेटो (Plato) ने भी सद्गुण को ही ज्ञान माना है। इनकी दृष्टि में ज्ञानी गलती नहीं करता है। इसीलिये कहा गया है—"Indian mind has viewed philosophy not as mere intellectual gymnastics but rather as a means to spiritual salvation."

चार्वाक अथवा लोकायत दर्शन की मान्यता है कि लौकिक जीवन ही यथार्थ है और इसीलिए लौकिक ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है और अलौकिक ज्ञान की बात ब्राह्मणों का षडयंत्र मात्र है किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है, फिर भी लौकिक जीवन को ध्यान में रखते हुए चार्वाक की ज्ञानमीमांसा की चर्चा सर्वप्रथम आवश्यक प्रतीत होती है तत्पश्चात् अन्य भारतीय दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत ज्ञानमीमांसीय विचारों को देखेंगे, फिर पाश्चात्य ज्ञान मीमांसा में अनुभववाद, बुद्धिवाद एवं समीक्षावाद की विवेचना की जाएगी।

अतः अब लोकायत दर्शन के अनुसार प्रमा (यथार्थ ज्ञान) और अप्रमा (अयथार्थ ज्ञान) के लिए प्रमाणों की विवेचना करनी जरूरी है और चार्वाक की

ज्ञान—मीमांसा की विवेचना करने के पूर्व ज्ञान की परिभाषा देना आवश्यक प्रतीत होता है।

इस सम्बन्ध में अद्वैतवादियों का मत उपर्युक्त मत से भिन्न एवं युक्तिसंगत प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में एच.एम. भट्टाचार्य ने ठीक ही लिखा है कि "The Advaitist..... A pure unity cannot admit of any degree either of truth or of reality. The doctrine of Adhyāsa tells us that our empirical world and our experiences of it are but products of illusion, so that neither experience, nor its object, can have any truth or reality when viewed from the standpoint of ultimate Truth and Reality."<sup>6</sup> इस सम्बन्ध में पाश्चात्य दार्शनिकों में ब्रैडले का मत सामंजस्य सिद्धान्त का बहुत हद तक पालन किया है। अन्तिम सत्य में इन्होंने भी डिग्रियों का निषेध किया है। इसीलिए एम.एम. भट्टाचार्य ने लिखा है कि, "As Bradley says, "The end of truth is to be and to possess reality in an ideal form". Truth must include without residue the entirety of what is in any sense given, and it means next that truth is bound to include this intelligibility."<sup>7</sup>

Knowledge is a system of ideas, corresponding to system of things, and involving a belief in such correspondence. Knowledge thus involves three elements, viz. : (i) There is a system of ideas in the mind, (ii) These ideas correspond to things actually existing and lastly, (iii) There is belief in such correspondence. To take a simple example, when we say we know the sun we mean that we have in our mind the idea of a heavenly body of enormous size. There is the sun actually existing, and lastly, we believe, thus it exists.<sup>8</sup> किन्तु सत्य के संवारिता सिद्धान्त से रामानुज एवं शंकर सन्तुष्ट नहीं हैं। रामानुज की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए एच.एम. भट्टाचार्य ने लिखा है—"...according to Ramānuja not only correspondence is a necessary condition both for the nature and test of truth but also it must be supplemented by the pragmatic condition or adaptability to practice as well as by consistency or some sort of coherence with social experience." अधिकांश भारतीय अभी भी इसे स्वीकार करते हैं।

### चार्वाक की तत्त्वमीमांसा (Epistemology)

The epistemological doctrine of the *Cîrvîka* school is that perception (*pratyakṣa*) is the only means of valid knowledge. The validity even of inference is rejected. Inference is said to be a mere

leap in the dark. We proceed here from the known to the unknown and there is no certainty in this, through some inferences may turnout to be accidentally true.<sup>9</sup>

**अब प्रश्न है—जिन युक्तियों के आधार पर चार्वाक अनुमान को यथार्थ ज्ञान के साधन के रूप में अस्वीकार करता है, वह क्या है?**

ज्ञान—मीमांसा का यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के क्या और कौन-कौन साधन हैं? इस प्रश्न के भिन्न-भिन्न उत्तर भारतीय चिन्तकों के द्वारा दिये गए हैं। मानसोल्लास में बतलाया गया है कि

प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः कणाद सुगतौ पुनः।  
 अनुमानं च तच्चापि सांख्याः शब्दं च ते अपि।।  
 न्यायैक देशिनोऽप्यवम् उपमानं च केचन।  
 अर्थापत्या सहैतानि चात्वार्याह प्रभाकरः।।  
 अभावषष्ठान्येतानि भाट्टा वेदान्तिनस्तथा।  
 संभवैतिह्ययुक्तानि तानि पौराणिक जगुः।।

डी.एम. दत्त के शब्दों में—“The *Cîrvîkas* admit only one source of valid knowledge—perception. The Buddhas and some *Vaiśeṣikas* admit two sources—perception and inference. To these the *Sāṅkhya*s add a third authority or testimony (subda). The *Naiyāyikas* admit a fourth way of knowing comparison (*upamāna*)—in addition to these... The *Prabhākaras* again add to these four methods a fifth—postulation or assumption (*arthapatti*). The Bhattas and the monistic Vedāntins recognise, however, six methods of knowing, adding 'non-cognition' (अनुपलब्धि)”.<sup>10</sup>

यानी भट्टमीमांसक एवं अद्वैत वेदान्ती ज्ञान के छः साधन मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि। न्यायदर्शन के अनुसार केवल चार प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। सांख्य तथा जैन विचारक केवल तीन साधनों को स्वीकार करते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द। वैशेषिकों ने मात्र दो प्रमाण को ही स्वीकार किया है—प्रत्यक्ष और अनुमान। चार्वाक उपर्युक्त सभी प्रमाणों अथवा साधनों में से मात्र प्रत्यक्ष को ज्ञान प्राप्ति का एकमात्र साधन मानता है एवं अन्य सभी प्रमाणों को अस्वीकार कर देता है। अब प्रश्न उठता है कि ज्ञान मीमांसा अथवा ज्ञानशास्त्र या प्रमाणशास्त्र क्या है? ज्ञानमीमांसा ज्ञान की समीक्षा है। इससे ज्ञान का स्वरूप, अवस्था, सीमाएँ, ज्ञान की वैधता आदि बातों की जानकारी मिलती है। हरिमोहन भट्टाचार्य के शब्दों में “The term epistemology means the science or philosophy of knowledge. Epistemology, there, may be defined as that science which inquires into the nature, conditions and factors, the limits and validity of

knowledge. In one word, epistemology is criticism of knowledge.”  
जर्मन दार्शनिक काण्ट ने दर्शन को ही ज्ञान की समीक्षा माना है।

अब स्पष्ट है कि चार्वाक की ज्ञानमीमांसा के दो पक्ष हैं—भावात्मक और निषेधात्मक। अनुमान, शब्द इत्यादि साधनों का खण्डन करना इनका निषेधात्मक पक्ष है और प्रत्यक्ष को एकमात्र प्रमाण मानना या स्वीकार करना इसका भावात्मक पक्ष है।

### चार्वाक ज्ञान—मीमांसा का भावात्मक पक्ष

चार्वाक के मुताबिक यथार्थ ज्ञानप्राप्ति का एकमात्र साधन प्रत्यक्ष है। इनके अनुसार केवल इन्द्रियों के द्वारा ही विश्वास योग्य ज्ञान अथवा असंदिग्ध ज्ञान प्राप्त हो सकता है। इन्द्रिय ज्ञान ही एकमात्र यथार्थ ज्ञान है। इस मत के प्रतिपादन के लिए चार्वाक अनुमान तथा शब्द जैसे प्रमाणों का खण्डन करते हैं। जे.एन. सिन्हा के शब्दों में “The *cîrvîkas* regarded perception as the only means of valid knowledge and reject the validity of inference. They reject the authority of the Vedîs and the supremacy of the Brîhmaḍas.”

पी.डी. शास्त्री के शब्दों में “Inference, testimony, analogy, presumption, etc. are all insecure and false perception by the senses is the only criterion of truth.”<sup>11</sup>

अब प्रश्न उठता है कि प्रत्यक्ष क्या है? ज्ञानेन्द्रियों तथा वस्तुओं के संयोग से प्राप्त ज्ञान ही प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है। एस.सी. चटर्जी के शब्दों में “Perception is an imediate valid cognition of reality, due to some kind of sense-object contact.”

ज्ञानेन्द्रियां छः हैं—आंख, कान, नाक, जीभ, त्वचा और मन। जब किसी वस्तु का संयोग हमारी बाह्य ज्ञानेन्द्रियों में से किसी के साथ होता है तो हमें बाह्य प्रत्यक्ष ज्ञान मिलता है और जब आन्तरिक इन्द्रिय (मन) के द्वारा सुख-दुःख आदि से सम्पर्क होता है तथा उससे जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसे आन्तरिक प्रत्यक्ष कहते हैं। उदाहरणार्थ, जब आंख का संयोग आम के साथ होता है तो हमें उसके गोल एवं लाल होने का जो ज्ञान मिलता है, वही बाह्य प्रत्यक्ष है।

जब मन का संयोग दुःख या सुख अथवा भाव आदि के साथ होता है तो हमें अनुकूल अथवा प्रतिकूल वेदना का जो ज्ञान मिलता है, वही आन्तरिक प्रत्यक्ष कहलाता है। प्रत्यक्ष ज्ञान ही एकमात्र यथार्थ ज्ञान है। इसलिए चार्वाक प्रत्यक्ष को ही एकमात्र ज्ञान प्राप्ति का साधन मानते हैं (प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्)। प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त ज्ञान यथार्थ, असंदिग्ध एवं निश्चित होता है। यही चार्वाक की ज्ञानमीमांसा का भावात्मक पक्ष है।

## ज्ञान-मीमांसा का निषेधात्मक पक्ष

चार्वाक ने प्रत्यक्ष को एकमात्र प्रमाण बतलाकर अन्यप्रमाणों (अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि) का खण्डन किया है। यहां अनुमान आदि प्रमाणों के विरुद्ध दिये गये तर्कों को प्रस्तुत करना उचित प्रतीत होता है।

अनुमान ज्ञान-प्राप्ति का साधन नहीं है-अनुमान का शाब्दिक अर्थ है-अनु+मान अर्थात् पश्चात् ज्ञान। प्रत्यक्ष के बाद आने वाला ज्ञान ही अनुमानजन्य ज्ञान है। एस.सी. चटर्जी ने भी लिखा है-“*Anumāna* literally means such knowledge as follows some other knowledge. Inference is sometimes defined as knowledge which preceded by perception. It depends on perception also for knowledge or *vyāpti* or the universal relation between the middle and major term of inference.” यानी ज्ञात के आधार पर अज्ञात के विषय में ज्ञान प्राप्त करने की क्रिया को अनुमान कहा जाता है। उदाहरणार्थ-किसी विद्यार्थी को कठिन परिश्रम करते देखकर उसके प्रथम श्रेणी में परीक्षोत्तीर्ण होने की बात सोचना अनुमान है। इसी तरह धुएँ को देखकर आग की बात सोचना अनुमान का उदाहरण है। चार्वाक ने, जैसा कि बतलाया जा चुका है कि अनुमान को यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति का साधन नहीं माना है। अनुमान के विरुद्ध उनके निम्नलिखित तर्क उल्लेखनीय हैं-(क) अनुमान का आधार व्याप्ति है, जिसकी स्थापना किसी भी प्रकार से संभव नहीं है। अब प्रश्न उठता है कि व्याप्ति क्या है? दो वस्तुओं के बीच नियत, अनौपाधिक एवं सामान्य सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। जैसे धुआँ और अग्नि के बीच व्याप्ति सम्बन्ध है। ‘व्याप्ति’ के आधार पर ही अनुमान किया जाता है। उदाहरणस्वरूप “जहां-जहां धुआँ है, वहां-वहां आग है। इस पहाड़ पर धुआँ है इसलिए इस पहाड़ पर आग है।” इस उदाहरण में “जहां-जहां धुआँ है, वहां-वहां आग है” व्याप्तिवाक्य है। इसी आधार पर पहाड़ पर आग होने का अनुमान किया गया है। इसी प्रकार सभी प्रकार के अनुमान व्याप्ति पर ही आधारित रहते हैं। चार्वाक के अनुसार ‘व्याप्ति’ वास्तविक नहीं है एवं इसकी स्थापना कदापि संभव नहीं है। व्याप्ति के विरुद्ध इनका निम्नलिखित आक्षेप है-

1. प्रत्यक्ष के आधार पर ‘व्याप्ति’ की स्थापना नहीं हो सकती है-प्रत्यक्ष के आधार पर भूत, वर्तमान और भविष्य के सभी विषयों का ज्ञान असंभव है। जहां-जहां धुआँ है, वहां-वहां आग है। यह एक व्याप्ति-वाक्य है। सभी धुआँयुक्त जगहों को अग्नियुक्त प्रत्यक्ष के आधार पर निरीक्षण करना संभव नहीं है। इसलिए प्रत्यक्ष के द्वारा व्याप्ति की स्थापना नहीं हो सकती।

2. अनुमान के आधार पर भी व्याप्ति की स्थापना नहीं हो सकती है। जिस अनुमान के द्वारा हम इसकी (व्याप्ति की) स्थापना करेंगे, उसकी सत्यता भी तो व्याप्ति पर ही निर्भर करती है। अनुमान दो तरह के हैं-निगमन एवं आगमन। व्याप्ति की स्थापना न तो निगमन द्वारा संभव है, न आगमन के द्वारा

ही। अगर व्याप्ति अनुमान पर आधारित हो तो उस अनुमान को किसी अन्य व्याप्ति पर आधारित करना होगा। इस तरह यहां अन्योन्याश्रय दोष हो जाता है। ऐसा इसलिए होता है, क्योंकि अनुमान व्याप्ति पर निर्भर है एवं व्याप्ति अनुमान पर आधारित है। इस दोष से बचने के लिए व्याप्ति को अनुमान द्वारा स्थापित नहीं किया जा सकता है।

3. व्याप्ति की स्थापना हम शब्द के द्वारा भी नहीं कर सकते हैं क्योंकि शाब्दिक प्रमा भी अनुमान के द्वारा ही सिद्ध होती है। दूसरी बात यह है कि यदि अनुमान हमेशा शब्द-प्रमाण पर ही आधारित हो तो फिर कोई भी व्यक्ति अपने आपसे अनुमान नहीं कर सकता। उसे सर्वदा किसी विश्वास योग्य व्यक्ति पर निर्भर करना होगा।

4. कार्य-कारण-नियम और प्रकृति-समरूपता-नियम के आधार पर भी 'व्याप्ति' की स्थापना नहीं हो सकती। कार्य-कारण-नियम के मुताबिक प्रत्येक घटना का कारण होता है। कारण के अभाव में कोई भी घटना नहीं घट सकती है। प्रकृति-समरूपता-नियम के अनुसार समान परिस्थिति में प्रकृति का समान व्यवहार होता है। अगर आज धुएँ के साथ आग पाई जाती है तो भविष्य में भी पायी जाएगी, क्योंकि दोनों कार्य-कारण-सम्बन्ध से जुड़े हुए हैं। अब प्रश्न उठता है कि क्या दोनों नियमों की मदद से व्याप्ति की स्थापना की जा सकती है? चार्वाक का कहना है कि ये दोनों नियम भी सामान्य वाक्य या व्याप्ति-वाक्य ही हैं तो फिर स्वयं इसकी स्थापना किस प्रकार होगी? यहां एक सामान्य वाक्य की स्थापना अन्य सामान्य वाक्यों की सहायता से की जा सकती है। इसीलिए यहां भी पुनरावृत्ति अथवा चक्रक दोष उत्पन्न हो जाता है।

5. भावात्मक और अभावात्मक उदाहरणों के निरीक्षण द्वारा भी व्याप्ति की स्थापना नहीं की जा सकती है। नैयायिकों ने अन्वय-व्यतिरेक-विधि के द्वारा व्याप्ति की स्थापना का प्रयत्न किया है। अन्वय-व्यतिरेक-विधि में भावात्मक एवं निषेधात्मक दोनों तरह के उदाहरणों का निरीक्षण किया जाता है। जैसे-अनेक उदाहरणों में धूम और अग्नि की एक साथ उपस्थिति पाते हैं एवं अनेक उदाहरणों में अग्नि की अनुपस्थिति के साथ धूम की भी अनुपस्थिति पाते हैं। तभी हम व्याप्ति-वाक्य की स्थापना कर पाते हैं कि जहां-जहां धुआं है, वहां-वहां आग है। चार्वाक के अनुसार भावात्मक और अभावात्मक उदाहरणों के निरीक्षण के बावजूद कुछ आवश्यक शर्तों के अनिरीक्षण रह जाने की संभावना बनी रहती है। इसलिए अन्वय-व्यतिरेक विधि के द्वारा भी व्याप्ति की स्थापना संभव नहीं है।

अतः अनुमान व्याप्ति पर आधारित है और व्याप्ति में वास्तविक सत्यता नहीं है। व्याप्ति वाक्य की स्थापना न निरीक्षण, न आगमन, न अन्वय-व्यतिरेक से ही हो सकती है। ज्ञान देना अनुमान का आवश्यक गुण नहीं है। अनुमान ज्ञान नहीं देता, वह तो संभावना पर आधारित है।



(ख) अनुमान, उपमान, शब्द अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि के द्वारा प्राप्त ज्ञान अनिश्चित होता है—चार्वाक का कहना है कि प्रत्यक्ष को छोड़कर अन्य प्रयाणों के द्वारा प्राप्त ज्ञान अधिकतर संदिग्ध एवं अनिश्चित होता है।

(ग) व्यावहारिक जीवन की सफलताओं अथवा सफलताओं के आधार पर अनुमान को यथार्थ ज्ञान का साधन नहीं कहा जा सकता है—चार्वाक की ज्ञानमीमांसा पर कभी—कभी यह आक्षेप लगाया जाता है कि अगर अनुमान यथार्थ ज्ञान नहीं देता तो फिर इससे हमारे दैनिक जीवन में सहायता कैसे मिलती है? किसान अच्छी फसल काटने का अनुमान करके ही खेत पर कठिन परिश्रम करता है। इसी तरह छात्र एवं छात्राएँ अनुमान करके कठोर मेहनत करते हैं कि उन्हें परीक्षा में सफलता मिलेगी। इससे स्पष्ट हो जाता है कि अनुमान व्यावहारिक जीवन में सहायक है। इस तर्क अथवा युक्ति के विरुद्ध चार्वाक का कहना है कि व्यावहारिक जीवन में सहायक होने के कारण इसे (अनुमान को) यथार्थ ज्ञान का साधन नहीं माना जा सकता है। क्योंकि व्यक्ति कभी—कभी अनुमान के चलते संकट में भी फँस जाता है। अनुमान के द्वारा प्राप्त ज्ञान के सत्य होने की मात्र संभावना रहती है, निश्चितता नहीं। संभावना और यथार्थ ज्ञान में अन्तर है। यह कहना अनुचित है कि संभावना से यथार्थ ज्ञान मिलता है। अतः चार्वाक ने अनुमान को यथार्थ ज्ञान का साधन नहीं माना है।

शब्द को भी यथार्थ ज्ञान का साधन नहीं माना जा सकता है—चार्वाक ने शब्द के विरुद्ध निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किया है—

(क) शब्द आप्त पुरुष या विश्वसनीय व्यक्ति के वचन हैं। अब प्रश्न उठता है कि विश्वसनीय व्यक्ति कैसे उपलब्ध होंगे? चार्वाक का कहना है कि सर्वप्रथम ऐसे व्यक्ति को पाना कठिन है। अगर ऐसे व्यक्ति (आप्त पुरुष) मिल भी जाएँ तो पर भी प्रश्न उठेगा कि इनके कथन को सत्य क्यों मान लिया जाय। इसके लिए अनुमान का सहारा लेना पड़ता है—“सभी विश्वसनीय व्यक्तियों के कथन सत्य होते हैं, यह कथन एक विश्वसनीय व्यक्ति का है, इसलिए यह कथन सत्य है।” इस अनुमान के आधार पर किसी विश्वसनीय व्यक्ति के कथन को सत्य माना जा सकता है। चार्वाक ने अनुमान को पहले ही ज्ञान के साधन के रूप में अयोग्य एवं अप्रामाणिक सिद्ध कर दिया है। इसलिए अनुमान पर आश्रित शब्द स्वतः अप्रामाणिक सिद्ध हो जाता है।

(ख) शब्द को स्वतंत्र प्रमाण नहीं कहा जा सकता है। अनुमान की तरह यह भी प्रत्यक्ष पर निर्भर है।

(ग) शब्द द्वारा प्राप्त ज्ञान हमेशा सत्य नहीं होता है। यानी सत्य ज्ञान देना शब्द का अनिवार्य गुण न होकर आकस्मिक गुण है। इसलिए इसे यथार्थ ज्ञान का साधन नहीं माना जा सकता है।

अधिकांश चिन्तकों ने आध्यात्मिक व वैदिक वाक्य को अकाट्य बतलाया है किन्तु चार्वाक ने वेदों की औथॉरिटी एवं ब्राह्मणों की सुपरमेशी को पहले ही

खण्डन कर दिया है, इसीलिए जे.एन. सिन्हा ने लिखा है—“They reject the authority of the Vedîs and the supermacy of the Brîhmanas.”

वेदों में अनेक विरोधपूर्ण, द्वयर्थक, अस्पष्ट एवं अबौद्धिक वाक्यों की भरमार है, इसलिए इनसे सत्य अथवा असंदिग्ध ज्ञान की आशा करना व्यर्थ ही है।

(घ) वेदों की रचना धूर्त ब्राह्मणों ने अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए की है। इसीलिए चार्वाक ने कहा है कि “त्रयो वेदस्य कर्तारौ भण्ड धूर्त निशाचराः”।

### चार्वाक की ज्ञान मीमांसा की आलोचना

(क) इनके मुताबिक (चार्वाक के अनुसार) प्रत्यक्ष ही ज्ञान प्राप्ति का एकमात्र साधन है (प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्)। इन्होंने अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि को यथार्थ ज्ञान का स्वतंत्र प्रमाण स्वीकार नहीं किया है। प्रत्यक्ष का क्षेत्र अत्यंत संकीर्ण है। इसके आधार पर भूत एवं भविष्य का ज्ञान प्राप्त करना संभव नहीं है। वर्तमान के भी सभी पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा असंभव है। अगर प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण माना जाए तो ज्ञान का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित हो जायेगा। अतः प्रत्यक्ष को ज्ञान प्राप्ति का एकमात्र साधन नहीं कहा जा सकता है।

(ख) अनुमान ज्ञान प्राप्ति का एक महत्वपूर्ण साधन है। तर्क-वितर्क, खण्डन-मण्डन इत्यादि अनुमान पर ही निर्भर करता है। अगर अनुमान को हम ज्ञान का साधन नहीं मानते हैं तो फिर मानव को बुद्धिशील या मननशील अथवा तर्कशील प्राणी नहीं कहा जा सकता है किन्तु इस विवेक गुण के अभाव में मनुष्य, मनुष्य न होकर पशु बन जायेगा इसलिए अनुमान का बहिष्कार मानव के लिए आत्महत्या के समान है।

(ग) चार्वाक एक ओर तो अनुमान का खण्डन करते हैं और दूसरी ओर इसको ग्रहण करते हैं। दूसरों के विचारों को ग्रहण करने में और उन तक अपने विचारों को पहुँचाने के लिए इन्होंने अनुमान की सहायता ली है। इसी प्रकार आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग, पुनर्जन्म इत्यादि का खण्डन करने के लिए इन्हें अनुमान की ही सहायता लेनी पड़ती है। इस प्रकार चार्वाक अनुमान के खण्डन करने का मात्र ढोंग रचते हैं एवं स्वयं भीतरी दरवाजे से इसको अपना लेते हैं।

(घ) अनुमान के विरुद्ध इनका (चार्वाक का) कहना है कि इससे कभी-कभी मिथ्या ज्ञान अथवा धोखा भी होता है, इसलिए इसे यथार्थ ज्ञान का साधन नहीं कहा जा सकता है। अगर चार्वाक की इस युक्ति को सत्य मान लें तो फिर प्रत्यक्ष को भी ज्ञान का साधन नहीं कहा जाना चाहिए चूँकि प्रत्यक्ष ज्ञान भी कभी-कभी गलत होता है। यानी प्रत्यक्ष ज्ञान से भी धोखा होता है।

(ङ) शब्द को भी ज्ञान के साधन के रूप में अस्वीकार करने का मुख्य हेतु (चार्वाक यह बतलाते) हैं कि इससे हमेशा निश्चित एवं सही अथवा ठीक ज्ञान नहीं मिलता। यह कहना सत्य है कि शब्द-ज्ञान कभी-कभी अनिश्चित,

असत्य एवं संदेहात्मक होता है किन्तु इसी आधार पर इसे यथार्थ ज्ञान का साधन नहीं मानना उचित नहीं कहा जा सकता है। ऐसे तो प्रत्यक्ष ज्ञान भी कभी-कभी दूषित एवं असत्य हो जाता है। पृथ्वी देखने में चिपटी लगती है, किन्तु वास्तव में यह नारंगी के समान गोल है। अतः जिस आधार पर चार्वाक ने अनुमान आदि प्रमाण को यथार्थ ज्ञान के स्वतंत्र प्रमाण के रूप में अस्वीकार किया है उसी आधार को अगर स्वीकार कर लिया जाय तो प्रत्यक्ष प्रमाण भी अस्वीकृत हो जायेगा। अगर प्रत्यक्ष ज्ञान निश्चित एवं दोषपूर्ण होने पर भी ज्ञान का साधन कहा जाता है तो फिर शब्द को भी इसी आधार पर ज्ञान का साधन मानने में क्या हर्ज है?

(च) चार्वाक ने वैदिक शब्दों के विरुद्ध जेहाद बोलते हुए इनके रचयिताओं को भद्दी गालियाँ तक दी हैं। इन्होंने उन्हें धूर्त, पाखंडी, ढोंगी, निशाचर, स्वार्थी आदि कई बुरी संज्ञाओं से विभूषित किया है। वस्तुतः वैदिक ऋषि-मुनि अथवा महर्षि पाखंड, ढोंग, स्वार्थ इत्यादि से परे थे। उनका सम्पूर्ण जीवन लोगों की सेवा, कल्याण अथवा निःस्वार्थ सेवा की भावना का ज्वलन्त उदाहरण है। उन्हें बुरा-भला कहना किसी भी विचारक के लिए शोभा नहीं देता है।

**समीक्षा**—उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद यह मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि चार्वाक के प्रमाण-विज्ञान की देन को भुलाया नहीं जा सकता है। चार्वाक के नाम से उनके विपक्षियों ने अनुमान के खण्डन के लिए जो युक्तियाँ दी हैं, वे कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इस प्रकार की युक्तियाँ आधुनिक पाश्चात्य तर्कशास्त्र में भी पाई जाती हैं। चार्वाक का यह कहना कि अनुमान से निश्चित ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती है। इस बात को पाश्चात्य देशों में प्रैग्मेटिस्ट तथा लॉजिकल पॉजीटिविस्ट आदि अनेक सम्प्रदायों के विद्वानों व विचारकों ने स्वीकार कर लिया है।

अष्टावक्र ने भी कहा है—मूढ़ व्यक्ति योग, अभ्यास और साधनाओं से ब्रह्म होने की कामना करता है, किन्तु साधनाओं से ब्रह्म की प्राप्ति नहीं होगी। किन्तु चार्वाक के विपरीत इनका कहना है कि ब्रह्म तो वह स्वयं ही है। ब्रह्म से वह है, उसी से ब्रह्म है।<sup>12</sup>

राधाकृष्णन् के शब्दों में—अनुमान का यौगिक अर्थ है किसी वस्तु के पश्चात् मापना। यह वह ज्ञान है, जो अन्य ज्ञान के पश्चात् आता है। चिह्न (लिंग) के ज्ञान से हम उस पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करते हैं जिसमें वह चिह्न विद्यमान हो। अनुमान शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थों में होता है, जिनमें निगमन और आगमन दोनों प्रकार की प्रक्रिया आ जाती है। अनुमान की परिभाषा कभी-कभी इस प्रकार की जाती है। ऐसा ज्ञान जिससे पूर्व प्रत्यक्ष ज्ञान आवश्यक है। वात्स्यायन की सम्मति में, “प्रत्यक्ष ज्ञान के अभाव में अनुमान ही नहीं सकता।”<sup>13</sup>

अलौकिक प्रत्यक्ष और अलौकिक प्रत्यक्ष के अन्तर्गत योगज एवं अपरोक्षानुभूति के अभाव में चार्वाक तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में भौतिकवादी और

आचार मीमांसा में सुखवादी दार्शनिक के रूप में जाने जाते हैं, इनकी दृष्टि में अर्थ साधन और काम ही जीवन का लक्ष्य है। शंकराचार्य ने ठीक ही कहा है कि “आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वता तदुत्कामा चं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।।”<sup>14</sup> अर्थात् अपेक्षारहित पुरुष को शान्ति अर्थात् परम पुरुषार्थ (मोक्ष) की प्राप्ति होती है, दूसरे को अर्थात् भोगों की कामना करने वाले को नहीं मिलता। अभिप्राय यह कि जिनको पाने के लिये इच्छा की जाती है उन भोगों का नाम काम है, उनको पाने की इच्छा करना जिसका स्वभाव है वह काम-कामी है, वह उस शान्ति को कभी नहीं पाता है। शान्ति के लिए इन्द्रिय अनुभव की नहीं बल्कि अनुभवातीत ज्ञान की जरूरत है। और चार्वाक अनुभवातीत ज्ञान के महत्त्व को स्वीकार ही नहीं करते हैं तो फिर उससे लाभ कैसे उठा पायेंगे? मनुष्य के लिए अनुभव और अनुभवातीत दोनों आवश्यक हैं। समृद्ध ज्ञान अथवा पूर्ण ज्ञान के लिए अपरोक्षानुभूति एवं अनुभवातीत ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। इसका निषेध बुद्धिसम्मत नहीं है। इसका मतलब यह नहीं कि चार्वाक दर्शन महत्त्वपूर्ण नहीं है अथवा बेकार है बल्कि आदिकाल से लेकर अभी तक इसके महत्त्व को स्वीकार करने के लिए सभी दार्शनिक बाह्य नजर आते हैं तभी तो एम. हिरियन्ना ने लिखा है—“यदि हम इसके उग्र विचारों को प्राचीन भारत में व्यापक रूप से प्रचलित कल्पना की स्वच्छन्द उड़ानों और कठोर तपश्चर्यावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया का फल भी मान लें तो भी हमें मानना पड़ेगा कि इस दर्शन के सिद्धान्त एक समय कम आपत्तिजनक रहे होंगे। जिस रूप में यह अब मिलता है, उससे इसके काल्पनिक जैसा होने का आभास होता है।”<sup>15</sup>

मैक्समूलर ने भी इस बात की सम्पुष्टि सिक्स सिस्टम्स ऑफ इण्डियन फिलॉसॉफी में की है। आगे फिर एम. हिरियन्ना ने लिखा है कि यदि इसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता हो तो वह हमें इसके भोगासक्ति के उपदेश में मिल जाएगा, जिसे सिखाने की जरूरत नहीं होती। चार्वाक दर्शन का अन्य सम्प्रदायों के द्वारा मानी हुई बातों का निषेध करने में इतना अधिक प्रयत्न लगाना और भारतीय विचार जोड़ने में इतना कम प्रयत्न लगाना भी कुछ सन्देह पैदा करने वाली बात है।<sup>16</sup>

---

---

अध्याय-2  
प्रमा और अप्रमा

---

---

ज्ञान के सिद्धान्त का प्रारम्भ जिस तथ्य से होता है, वह यह नहीं है कि हमें ज्ञान है बल्कि यह है कि हम उसका दावा करते हैं। यह प्रमाणवादी का कार्य है कि वह अनुसंधान करे कि उस दावे को कहां तक निभाया जा सकता है। प्रमा अथवा सत्य के सिद्धान्त में नैयायिक जिज्ञासा करना आरम्भ करता है कि कहां तक हमारा दावा तर्क की कसौटी पर न्यायोचित ठहर सकता है। वह यह जताने का प्रयत्न करता है कि चार प्रमाणों के द्वारा जो ज्ञान हमें प्राप्त होता है, वह प्रामाणिक है अथवा उसकी प्राकृतिक आवश्यकता है।

न्यायशास्त्र द्वारा प्रतिपादित ज्ञान के सिद्धान्त का माध्यमिक मत के संशयवाद के साथ विरोध है। संशयवादी का कहना है कि हमें पदार्थों के तत्त्व का ज्ञान नहीं होता और हमारा विचार परस्पर इतना विरोधी है कि उसे यथार्थ नहीं समझ सकते। इस मत के विरोध में वात्स्यायन का कहना यह है कि यदि माध्यमिक को इतना निश्चय है कि किसी भी पदार्थ की सत्ता नहीं है, तो उसे अपने ही मत के अनुसार कम से कम इतनी निश्चितता तो स्वीकार है ही और इस प्रकार उसके मत का अपने से ही खण्डन हो जाता है और यदि 'किसी पदार्थ की सत्ता नहीं' इसे सिद्ध करने के लिए उसके पास कोई प्रमाण नहीं है और यह उसकी केवल अयुक्तियुक्त कल्पना है तो इसके विपरीत मत को स्वीकार किया जा सकता है और फिर जो प्रमाणों की मान्यता को अस्वीकार करता है, वह या तो किसी प्रमाण के आधार पर ऐसा कर सकता है या बिना किसी आधार के ऐसा कर सकता है। यदि पिछली बात है तो तर्क करना निरर्थक है और यदि पहली बात है तो वह प्रमाणों की मान्यता को स्वीकार कर ही लेता है।

मौलिक संशयवाद क्रियात्मक नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को विचार प्रारम्भ करते ही ज्ञान के सिद्धान्तों को स्वीकार करना पड़ता है और जो विचार की क्रिया को स्वीकार करता है, उसे यथार्थ के जगत् को भी स्वीकार करना ही होता है, क्योंकि विचार तथा यथार्थ सत्ता एक-दूसरे पर आश्रित है। वात्स्यायन का कहना है कि यदि विचार द्वारा पदार्थों का विश्लेषण संभव है तो यह कहना अयुक्तियुक्त होगा कि पदार्थों का वास्तविक प्रकृति का ज्ञान नहीं हो सकता है। और यदि दूसरे पक्ष में, पदार्थों की वास्तविक सत्ता का ज्ञान नहीं होता तो विचार द्वारा पदार्थों का विश्लेषण संभव नहीं होता। इस प्रकार यह कहना कि विचार द्वारा पदार्थों का विश्लेषण होता है किन्तु पदार्थों की वास्तविक प्रकृति का ज्ञान नहीं होता है। इन दोनों वक्तव्यों में परस्पर विरोध है। उद्योतकर इसे इस प्रकार रखते हैं कि "यदि विचार द्वारा पदार्थों की सत्ता नहीं है तो विचार द्वारा पदार्थों का विश्लेषण संभव नहीं है। नैयायिकों का कहना है कि ज्ञान यथार्थ सत्ता का सूचक है।"

वात्स्यायन ने विज्ञानवाद के इस मत पर आक्षेप किया है कि अनुभूत पदार्थ साक्षात्कार के सूत्रमात्र हैं। स्वप्न में देखे गए पदार्थ यथार्थ नहीं होते, क्योंकि जागरिकतावस्था में हमें उनका अनुभव नहीं होता है। यदि इन्द्रियग्राह्य

अनुभूत जगत् का अस्तित्व न हो तो स्वप्न की अवस्थाएं संभव ही न हो सकतीं। स्वप्नों की विविधता उनके कारणों की विविधता पर आश्रित है। यदि यथार्थसत्ता का अस्तित्व न हो तो सत्य तथा भ्रांति में भेद न के बराबर होता है और इस तथ्य का कोई स्पष्टीकरण संभव न होता कि प्रत्यक्ष ज्ञान में हमें स्वेच्छाचार प्राप्त नहीं है और नैयायिक उस मत से भी संतुष्ट नहीं है, जो पदार्थों को स्वयंसिद्ध, यद्यपि क्षणिक स्वभाव वाले मानते हैं। यदि पदार्थ हमारे ज्ञान के कारण है तो उनका अस्तित्व कार्य अर्थात् ज्ञान से पूर्व होना आवश्यक है, किन्तु पदार्थों की क्षणिकता के मत से जिस पदार्थ ने ज्ञान उत्पन्न किया, उसका दूसरे ही क्षण में, जबकि उसका प्रत्यक्ष होता है, अस्तित्व नहीं रहता। ऐसे मत को किस प्रकार स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान तो केवल उस पदार्थ का होता है, जो कि उसी क्षण में विद्यमान हो। ऐसा तर्क उपस्थित करना कि पदार्थ का तिरोधान प्रत्यक्ष ज्ञान का समकालीन है, निःसार है क्योंकि हम वर्तमान काल में पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करते हैं न कि भूतकाल में पदार्थ का। इस प्रकार अनुमान तक भी असंभव हो जाएगा। फिर कार्य और कारण के आधान और आधेय के रूप में परस्पर सम्बद्ध होने के कारण दोनों का एक ही काल में विद्यमान रहना आवश्यक है। जो पदार्थ वास्तविक रूप से है उसका मौलिक स्वरूप उस पदार्थ से, जिसकी केवल कल्पना की जाती है, इस बात में भिन्न है कि उसकी सत्ता अनुभव के हर सम्बन्ध से स्वतन्त्र है। जिस पदार्थ की सत्ता है, वह उस काल में भी है जबकि हमें उसका अनुभव नहीं होता है। अनुभव एकपक्षीय निर्भरता का सम्बन्ध है। अनुभव की विद्यमानता के लिए पदार्थों का रहना आवश्यक है; किन्तु पदार्थों की सत्ता के लिए किसी अनुभव का होना आवश्यक नहीं है। इस प्रकार नैयायिक इस परिणाम पर पहुंचता है कि हमारे विचार, द्रव्य की इच्छा एवं प्रयोजन से स्वतन्त्र, तथ्यों के वस्तुपरक स्तर (मानदण्ड) के अनुसार होते हैं। पदार्थों की सत्ता प्रमाणों पर निर्भर नहीं करती, यद्यपि बोध के विषय के रूप में उनका अस्तित्व बिल्कुल प्रमाणों की क्रिया पर निर्भर करता है।

प्रमाणों की प्रमाण संज्ञा इसलिए है कि वे हमें प्रमा (सत्य) प्राप्त कराते हैं। उदयनाचार्य ने अपने 'तात्पर्य परिशुद्धि' नामक ग्रन्थ में कहा है कि "पदार्थों के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान 'प्रमा' है और इस प्रकार के ज्ञान के साधन को प्रमाण कहते हैं।" पदार्थों का वास्तविक स्वरूप अर्थात् तत्त्व क्या है? यह जो पदार्थ है, उसकी विद्यमानता और जो पदार्थ नहीं है उसका अभाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि जब किसी पदार्थ का, जो है, एक विद्यमान पदार्थ के रूप में ज्ञान प्राप्त किया जाता है अर्थात् उसे उसके यथार्थ रूप में जाना जाता है (यथाभ्रम) और उससे विरोधी रूप में नहीं जाना जाता (अविपरीतम्) तो इस प्रकार जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है, वह उस पदार्थ का यथार्थ स्वरूप है। इसी प्रकार दूसरी ओर जब एक असत् (अभाव रूप) का अभावात्मक अनुभव किया जाता है अर्थात् जो पदार्थ नहीं है और भावात्मक

पदार्थ के विरोधी स्वरूप का है, तो वही उसका यथार्थ स्वरूप है। अप्रमा, भ्रम अथवा मिथ्या ज्ञान पदार्थ का उस रूप में ज्ञान है, जैसा कि वह नहीं है। यह केवल ज्ञान का अभाव नहीं है, बल्कि निश्चित भ्रांति है।

प्रश्न, परिप्रश्न, संशय आदि का भी मनुष्य के मानसिक इतिहास में एक स्थान है, यद्यपि उनकी यथार्थता अथवा अयथार्थता का प्रश्न नहीं उठता। व्यक्ति का विचार किए बिना किसी विषय-वस्तु के विषय में स्वतन्त्र रूप में निर्णय देना या किसी प्रकार का कथन करना तार्किक मूल्यांकन का उद्देश्य है। प्रत्येक ज्ञान एक प्रकार का ऐसा निर्णय है, जिसमें वह पदार्थ, जिसके विषय में निर्णय दिया जाए, विशेष्य है और उसके सम्बन्ध में जो कुछ कहा जाए वह विशेषण है। न्यायशास्त्र में निर्णय का विश्लेषण उद्देश्य और विधेय के रूप में उतना नहीं किया जाता जितना कि विशेष्य और विशेषण के रूप में होता है। समस्त ज्ञान पदार्थों के स्वरूप तथा गुणों के विषय में होता है। उद्देश्य हमें यह बताता है कि एक वस्तु का अस्तित्व है और विधेय उसके विशेष गुणों का वर्णन करके उसके स्वरूप का निश्चय कराता है, जहां निर्णय पदार्थ के स्वरूप में मेल खाता है। उसे हम यथार्थ ज्ञान कहते हैं। प्रत्येक विषय का अपना वास्तविक स्वरूप होता है और विचार विशेष्य तथा विशेषण में भेद करता है और प्रमाणित करता है कि दोनों वास्तविक जगत् में परस्पर संयुक्त पाए जाते हैं। यह कहा जाता है कि प्रमाण हमें वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कराते हैं। घट रूपी पदार्थ तथा उसके ज्ञान का जो सम्बन्ध है, वह समवाय सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि घट विषयक ज्ञान आत्मा का एक गुण है, घड़े का गुण नहीं है और न ही यह सम्बन्ध संयोग सम्बन्ध है, क्योंकि संयोग-सम्बन्ध केवल द्रव्यों में ही संभव है, जबकि ज्ञान द्रव्य नहीं बल्कि गुण है। तो भी पदार्थ और पदार्थ के ज्ञान के मध्य एक सम्बन्ध होना अवश्य चाहिए, जिससे निश्चित और यथार्थ परिणाम तक पहुंचाया जा सके। इस प्रकार हमारे निर्णय का एकमात्र संभव नियामक कारण घट का स्वरूप ही हो सकता है। इस प्रकार के सम्बन्ध को स्वरूप-सम्बन्ध कहते हैं, जिसकी परिभाषा भीमाचार्य के न्यायकोष में इस प्रकार की गई है कि "ऐसी अवस्था में जबकि निश्चित ज्ञान अन्य किसी सम्बन्ध अर्थात् समवाय अथवा संयोग के द्वारा प्राप्त न हो और इसकी सत्ता स्वीकार करने के लिए बाध्य हो। यह प्रमेय पदार्थ तथा बोध के मध्य अपने ही ढंग का एक निराला सम्बन्ध है। ज्ञानरूप कार्य, जो ज्ञान की क्रिया अथवा प्रक्रिया से स्पष्टतः भिन्न है, स्वयं में न तो भौतिक पदार्थ है और न केवल एक मानसिक अवस्था है। यह सार तत्त्व अथवा उस पदार्थ का स्वरूप है जो जाना जाता है। यदि बाह्य ज्ञान में ज्ञान का विषय स्वयं भौतिक सत्ता है तो उस अवस्था में भ्रांति हो ही नहीं सकती। उसके विषय में हर एक व्यक्ति का विवरण अवश्य सत्य होना चाहिए। यह समझना कि जब हम उत्तरी ध्रुव के विषय में सोचते हैं तो वह वस्तुतः हमारी चेतना में आ जाता है, तथ्य के साथ मेल नहीं खाता। यदि यह केवल एक मानसिक अवस्था है तो हम ज्ञानसापेक्षतावाद (विषयीविज्ञानवाद) के भंवर में आ फंसते हैं। ज्ञान



का विषय न तो भौतिक सत्तावान है और न मनोवैज्ञानिक सत्तावान है, बल्कि पदार्थ का स्वरूप है। समस्त ज्ञान में यह 'क्या' ही सार तत्त्व अथवा स्वरूप है जो यथार्थता का दावा रखता है। स्वप्नों में भी हमारे सामने 'क्या' आता है, किन्तु हमें यह पता चल जाता है कि स्वप्नगत पदार्थों की कोई यथार्थसत्ता नहीं है। उनका अस्तित्व सम्बन्धी उपलक्षित अनुमोदन उचित नहीं है। समस्त ज्ञान स्वरूपों का ही है, जिसमें सत्ता उपलक्षित रूप में आरोपित होती है। इस उपलक्षित विश्वास में कभी-कभी भ्रांति भी होती है। स्वयं ज्ञान की अपनी क्रिया द्वारा वस्तु-विषय पदार्थ से सम्बन्ध रखता है यह नहीं जाना जाता, क्योंकि ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य नहीं है। न्याय का मत है कि ज्ञान की यथार्थता अपने आप में सिद्ध नहीं है, बल्कि वह अन्य साधनों द्वारा (परतः प्रमाण) प्रमाणित की जाती है। सांख्य का विचार है कि यथार्थता और अयथार्थता बोध के अन्दर निहित है। किन्तु मीमांसकों का विचार है कि यथार्थ तो बोध के अपने ही कारण है, पर अयथार्थता बाह्य कारणों से होती है। इसलिए जब तक अन्यथा सिद्ध न हो, बोध को यथार्थ ही समझना चाहिए। बौद्ध विचारकों का मत है कि अयथार्थता तो सब बोधों के साथ सम्बद्ध है, किन्तु यथार्थता को सिद्ध करने के लिए अन्य साधनों की आवश्यकता होती है। इन सब मतों के विरोध में नैयायिक का कहना है कि यथार्थता और अयथार्थता की स्थापना बोध से स्वतन्त्र अन्य किसी वस्तु से होती है। यदि प्रत्येक बोध स्वयं स्पष्ट होता तो संशय की संभावना ही न होती। इसलिए यथार्थता का निश्चय तो सत्य घटनाओं को देखकर ही किया जाता है। कल्पना कीजिए कि हम एक पदार्थ को प्रत्यक्ष देखते हैं। हमें तुरन्त (तत्काल) यह निश्चय नहीं हो सकता कि जिस पदार्थ को हम देख रहे हैं वह ठीक उसी परिणाम और आकृति का है, जैसा कि हमें दिखाई देता है। हम देखते हैं कि सूर्य घूम रहा है। किन्तु वस्तुतः वह घूमता नहीं है। इसलिए पदार्थ के प्रत्यक्ष अथवा तात्कालिक ज्ञान के साथ उसकी यथार्थता का विश्वास स्वतः संलग्न नहीं है। हमें ज्ञान की यथार्थता न केवल पुनर्जन्म की मध्यस्थ प्रक्रिया द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। जो बात प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय में सत्य है, वही उन सब ज्ञान के विषय में भी सत्य है, जो हमें अन्य साधनों से प्राप्त होते हैं।

उपर्युक्त सिद्धान्त पर किये गए कतिपय आक्षेपों पर नैयायिकों ने विचार किया है। एक प्रमाण जो हमें किसी पदार्थ का बोध कराता है, स्वयं किसी अन्य प्रमाण का प्रमेय कैसे बन सकता है? जैसे कि एक तराजू जब उससे कोई वस्तु तौली जाती है, तो वह साधन है, किन्तु जब स्वयं तराजू वजन जानता हो तो वह पदार्थ बन जाएगी, जिसके वजन के लिए अन्य तराजू का वजन जानना हो तो वह पदार्थ बन जाएगी, जिसके वजन के लिए अन्य तराजू की आवश्यकता होगी। ठीक उसी तरह ज्ञान का साधन जब किसी प्रमेय पदार्थ की स्थापना करता है तो वह साधन है, परन्तु जब उसकी अपनी स्थापना की जाती है तो वह प्रमेय बन जाता है। वात्स्यायन का कहना है कि "बुद्धि अथवा ज्ञान वस्तुओं के परिज्ञान के कार्य में स्वयं साधन अथवा प्रमाण है किन्तु जब उसका स्वयं का

परिज्ञान अपेक्षित हो तो वही प्रमेय पदार्थ है। यदि यहां कहा जाए कि ज्ञान के एक साधन को अपनी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए ज्ञान के अन्य साधन की आवश्यकता न होनी चाहिए, अर्थात् यह स्वतःसिद्ध है, तो इस प्रमाराप्रमेय को भी स्वयंसिद्ध माना जा सकता है और तब प्रमाणों की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती। यह आपत्ति की जाती है कि यदि ज्ञान की यथार्थता का ज्ञान किसी अन्य ज्ञान के द्वारा प्राप्त किया जाता है, फिर दूसरे ज्ञान की यथार्थता अन्य ज्ञान के द्वारा जानी जाती है तो एक प्रकार की ऐसी अवस्था हो जाएगी, जिसका कहीं अन्त नहीं होगा। यदि हम कहीं बीच में ठहर जाते हैं तो प्रमाण की सिद्धि नहीं होती है। नैयायिकों की दृष्टि में यह कोई गम्भीर आपत्ति नहीं, बल्कि केवल एक काल्पनिक आपत्ति है। सब प्रकार के कार्य-सम्पादन के लिए हम प्रमाणों की यथार्थता को स्वयंसिद्ध मान लेते हैं और एक प्रमाण में दूसरे प्रमाण की यथार्थता को निरन्तर सिद्ध करते रहने की कोई आवश्यकता नहीं होती है। स्पष्ट ज्ञान की अवस्था में, जैसे कि जब हम किसी फल को अपने हाथ में देखते हैं, हमें बोध की यथार्थता के विषय में कोई संशय नहीं होता। हमें पदार्थ का निश्चित ज्ञान एक ही बोध की यथार्थता के विषय में कोई संशय नहीं होता। हमें पदार्थ का निश्चित ज्ञान एक ही बोध में हो जाता है। किन्तु संशयात्मक ज्ञानों में हमें उस ज्ञान की यथार्थता निश्चित करने के लिए अन्य ज्ञान की सहायता की आवश्यकता होती है और जब हमें पूर्ण रूप में यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तो हम आगे खोज करना बन्द कर देते हैं। कुछ प्रमाण ऐसे हैं, जिन्हें पदार्थों की सिद्धि और व्यावहारिक कार्यवाही के लिए अपने ज्ञान की आवश्यकता होती है और कुछ प्रमाण ऐसे हैं, जिन्हें पदार्थों की सिद्धि के लिए अपने ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। स्वयं धुएं का ज्ञान, इससे पूर्व की वह आग का ज्ञान कराए, आवश्यक है। इन्द्रियां हमें पदार्थों का ज्ञान देती हैं, किन्तु इन्द्रियों के अपने ज्ञान का प्रश्न नहीं उठता। हम इन्द्रियों का ज्ञान अन्य साधनों द्वारा प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु वह ज्ञान अनावश्यक है।

नैयायिकों के मत में हम सीधे यह नहीं जान सकते हैं कि हमारे बोध यथार्थ से मेल खाते हैं या नहीं। हमें इसके लिए अनुमान का आश्रय लेना पड़ता है कि यह कहां तक हमें सफल प्रयत्न की ओर अग्रसर करने में सक्षम है। सब प्रकार का ज्ञान हमें कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करता है। यह हमें बतलाता है कि अमुक पदार्थ वांछनीय है अथवा अवांछनीय है, अथवा दोनों में से किसी कोटि का भी नहीं है। जीवात्मा केवल निश्चेष्ट दर्शन के रूप में वस्तुओं की मात्र कल्पना ही नहीं करती है, वह ग्राह्य पदार्थों को ग्रहण करने तथा अग्राह्य पदार्थों को त्यागने के लिए सदा ही उत्सुक रहती है। विचार जीवन-यात्रा में मात्र एक प्रक्षिप्त कथा-प्रसंग है। “ज्ञान ऐसा बोध है, जो अभिलाषा को उत्तेजना देता है और कर्म की ओर अग्रसर करता है। नैयायिक उपयोगितावादियों के इस विचार के साथ सहमति प्रकट करता है कि ज्ञान का आधार है-मानव-प्रकृति की महत्त्वपूर्ण आवश्यकताएँ हैं और वहां एक ऐच्छिक प्रतिक्रिया को जन्म देता है।

हमारे विचारों का पदार्थों से मेल है या नहीं, इसका निश्चय हमें सफल कर्म के प्रति अग्रसर करने की उनकी योग्यता से ही हो सकता है, जिसे प्रवृत्ति-सामर्थ्य कहा गया है। इसलिए यह स्पष्ट है कि पदार्थों के साथ विचारों का सम्बन्ध अनुकूलता का है, सादृश्य का नहीं है। नैयायिक के मत से हमारे विचारों की यथार्थता तथ्यों के साथ उनके सम्बन्ध पर निर्भर करती है, और उनके मत में वह सम्बन्ध अनुकूलता का है, जिसका अनुमान हम विचारों की कार्यपद्धति से करते हैं। वस्तुतः उसी विचार को सत्य कहा जाता है कि जो हमें विचार द्वारा अभिलषित ज्ञान को प्राप्त करा सके और हमें परिस्थितियों के अनुसार सफलतापूर्वक कार्य करने के योग्य बना सके। तत्त्व-चिन्तामणि के प्रमाणवाद के अनुसार, बोधों की प्रमाणिकता अनुमान द्वारा स्थापित की जाती है। जब हम एक घोड़े को देखते हैं तो हमें सबसे पहले आकृति का बोध होता है, यह एक घोड़ा है, जिसके बाद एक अस्पष्ट-सा विचार मन में आता है कि "मैंने एक घोड़े को देखा है" और जब कोई घोड़े के समीप जाकर और वस्तुतः उसे छूकर देखता है, तभी उसे अनुमान होता है कि उसका बोध यथार्थ था और यदि आशा के अनुरूप प्रत्यक्ष ज्ञान उदय नहीं होता तो वह अनुमान करता है कि उसके बोध में भ्रान्ति हुई। हम जल को देखते हैं और उसके पास जाते हैं। यदि वह हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है तो हम अपने जल-सम्बन्धी ज्ञान को यथार्थ कहने लगते हैं, क्योंकि जो यथार्थ नहीं है, वह सफल क्रियाशीलता के लिए प्रोत्साहित नहीं कर सकता। जब हमारी आकांक्षाएँ पूरी हो जाती हैं तो हम अपने ज्ञान की यथार्थता को जान जाते हैं। इस प्रकार हम परिणामों से कारणों का अनुमान करते हैं। सत्य का यह सिद्धान्त अर्थात् विध्यात्मक दृष्टान्तों से यथार्थ ज्ञान की सफल उपलब्धि तथा अभावात्मक दृष्टान्तों से अयथार्थ ज्ञान की असफल उपलब्धि, आगमन कहलाता है।

यह व्यवहार्यता सत्य की केवल कसौटी मात्र है, विषय-वस्तु नहीं है। उपयोगितावाद के कुछ पक्षपोषकों का यह भी कहना है कि क्रियात्मक परिणाम ही सम्पूर्ण सत्य है और बौद्ध तार्किक इसका समर्थन करते हैं। बौद्ध तार्किकों का मत है कि "यथार्थ ज्ञान वह है, जिसका विरोध न हो सके। ऐसे ज्ञान को हम अविरोधी कह सकते हैं जो हमें दृष्ट पदार्थ की प्राप्ति करा सके।" पदार्थ की प्राप्ति से तात्पर्य उसके सम्बन्ध में सफलता पूर्वक कार्य करना तथा उसके स्वरूप को समझना है। नैयायिक के मत में सत्य व्यावहार्यता मात्र नहीं है, यद्यपि सत्य इससे जाना जाता है। प्रमाणित होने से पूर्व सत्य विद्यमान रहता है। निर्णय सत्य है, इसलिए नहीं कि वह प्रमाणित हो जाता है, बल्कि वह सत्य है इसलिए प्रमाणित हो जाता है। उक्त सिद्धान्त के सम्बन्ध में की गई अनेकों आपत्तियों की समीक्षा नैयायिकों ने की है। हमारी आकांक्षाएँ पूर्ण हो गईं, इसका हमें निश्चय नहीं हो सकता। भ्रमात्मक सन्तोष के भी अनेकों उदाहरण सुने गए हैं। स्वप्नों में हमें भासमान सन्तोष होता है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि स्वप्न की अवस्थाएं यथार्थ हैं। इसका उत्तर न्यायशास्त्र यों देता है कि केवल

सफल क्रियाशीलता की अनुभूति ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि एक सामान्य स्वस्थ मस्तिष्क की अनुभूति चाहिए, जो सफल क्रियाशीलता के पिछले अनुभवों का समर्थन करें। केवल मानसिक अवस्था की विशदता या सन्तोष की अनुभूति नहीं, बल्कि सम्पूर्ण अनुभव के साथ अनुकूलता अभीष्ट है। स्वप्नगत पदार्थ अनुभव के देश-काल रूपी सांचे में ठीक नहीं बैठ सकते और इसलिए वे काल्पनिक हैं।

जब तक फल की प्राप्ति नहीं होती तब तक हम अपने ज्ञान को निश्चित रूप से यथार्थ नहीं कह सकते। इस प्रकार हमें वह आत्मविश्वास नहीं मिल सकता, जिसके बिना कोई प्रयत्न संभव नहीं है। पदार्थों का यथार्थ ज्ञान सफल क्रियाशीलता की पूर्व शर्त है और सफल क्रियाशीलता से पूर्व हमें पदार्थों का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। उद्योतकर बलपूर्वक कहते हैं कि क्रियाशीलता और ज्ञान की सापेक्षिक पूर्ववर्तिता के प्रश्न में कोई सार नहीं है, क्योंकि सृष्टि अनादि है। इसके अतिरिक्त कर्म के लिए ज्ञान की यथार्थता नहीं, बल्कि पदार्थ का ज्ञान ही आवश्यक है। जहां तक परिचित पदार्थों का सम्बन्ध है, कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं होती। ऐसी स्थितियों में जहां हमारे समक्ष अद्भुत रूपरेखा उपस्थित होती है और केवल पूर्ववर्ती घटनाओं को लागू करना अपर्याप्त है, वहां भी पर्याप्त ज्ञान के आधार पर हम परीक्षण करते हैं। कभी-कभी हम प्रसिद्ध प्राक्कल्पनाओं का यथार्थ रूप जांचने के लिए कर्म में प्रवृत्त होते हैं। जीवन सामान्यतः धारणाओं के आधार पर चलता है और प्रत्येक प्रस्तुत क्रिया प्रणाली को उसके आधार पर कर्म करने से पूर्व तर्क की सूक्ष्मतुला पर तोलना सर्वदा संभव नहीं हो सकता। व्यावहारिक आवश्यकताओं का दबाव हमें विचारों के अनुसार कार्य करने को बाध्य कर देता है, भले ही उनका साक्ष्य अपूर्ण हो। धार्मिक विश्वास के विषय हमारे कर्म का निर्णय करते हैं, चाहे वे तर्क के क्षेत्र से परे ही क्यों न हों। नैय्यायिक स्वीकार करता है कि ऐसी अवस्थाएँ हैं, जहां पूर्ण जांच संभव नहीं है। अग्निहोत्र के अनुष्ठान से हमें स्वर्ग प्राप्ति होती है या नहीं, इसका निश्चित हमारी मृत्यु से पूर्व नहीं हो सकता। ऐसा व्यक्ति जो पूर्ण ज्ञान प्राप्त किये बिना कर्म ही नहीं करेगा, या तो अति वृहद् मस्तिष्क वाला होगा या अत्यन्त अल्पायु होगा। वाचस्पति और उदयनाचार्य जैसे परवर्ती नैय्यायिक प्रामाणिक ज्ञान के कुछ रूपों का स्वतः प्रमाण होना स्वीकार करते हैं। सब प्रकार की भ्रांति तथा उन संगति में रहित अनुमान और तात्त्विक समानता पर आश्रित उपमान वाचस्पति के अनुसार स्वतः प्रमाण्य रखते हैं, क्योंकि बुद्धि संगत आवश्यकता बोध तथा पदार्थों को परस्पर बांधने वाली है। इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान और शाब्दिक प्रमाण के विषय में हम समस्त रूप से निश्चित नहीं हो सकते। उदयनाचार्य ने वाचस्पति के मत को स्वीकार किया है और युक्ति दिया है कि अनुमान और उपमान के अतिरिक्त आत्मचेतना (धर्मीज्ञान) स्वतः प्रमाण्यरूप प्रामाणिकता रखते हैं।

---

---

अध्याय-3  
प्रत्यक्ष प्रमाण

---

---

प्रत्यक्ष शब्द द्वयर्थक है क्योंकि इसका प्रयोग परिणाम अर्थात् सत्य के ग्रहण के लिए और समस्त प्रक्रिया के लिए भी होता है, जो सत्य को ग्रहण करती है। यद्यपि प्रत्यक्ष शब्द का व्यवहार प्रारम्भ में केवल इन्द्रियों द्वारा साक्षात्कार के लिए ही होता था, किन्तु शीघ्र ही इसके अन्तर्गत वह समस्त ज्ञान भी आ गया, जिसका ग्रहण तुरन्त हो जाता है। भले ही उसमें इन्द्रियों की आवश्यकता न भी हुई हो।<sup>17</sup>

न्यायदर्शन में प्रत्यक्ष को व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। प्रत्यक्ष से 'प्रमा' और 'प्रमाण' दोनों का बोध होता है। वास्तविक ज्ञान को प्रमा और अवास्तविक ज्ञान को अप्रमा कहा जाता है। जहाँ तक प्रमाण का प्रश्न है जिस साधन से यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति हो, उसे प्रमाण कहते हैं।

के.पी. बहादुर के शब्दों में, "Perception is knowledge which arises by the contact of a sense with the object. This knowledge is determinate, unconnected with name and non-erratic.

From the *naya* standpoint perception is an immediate valid cognition of reality, due to same kind of sense object contact..."<sup>18</sup>

वस्तुतः ज्ञान की विविध साधनों में प्रत्यक्ष या अन्तर्दृष्टि का महत्त्व सबसे अधिक है। वात्स्यायन ने तो यहाँ तक कहा है कि "जब मनुष्य किसी पदार्थ-विशेष का ज्ञान प्राप्त करने की अभिलाषा करता है और कोई विश्वसनीय पुरुष उसे उस पदार्थ के विषय में बतला भी देता है तो भी उसके अन्दर एक अभिलाषा उसकी यथार्थता को अनुमान द्वारा विशेषण-विशेष लक्षण जानकर परखने की होती है, किन्तु इतने पर भी उसकी जिज्ञासा शान्त नहीं होती जब तक कि वह स्वयं उसे अपनी आँखों से देख न ले। अपनी आँखों से देख लेने पर ही उसकी इच्छा पूर्ण होती है और तब वह फिर ज्ञान-प्राप्ति के लिए और किसी साधन की खोज नहीं करता।"<sup>19</sup>

Immediate Apprehension (*pratakṣa*) is the act of the mind by which we become directly aware of something.<sup>20</sup>

प्रत्यक्ष शब्द का शाब्दिक अर्थ आँख के सम्मुख होना है (प्रति+अक्ष)। पहले आँख और वस्तु के सम्पर्क या सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को ही प्रत्यक्ष ज्ञान माना जाता था लेकिन बाद में चलकर अन्य ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान को भी प्रत्यक्ष के अन्तर्गत लिया जाने लगा है। यानी यहाँ आँख से सभी ज्ञानेन्द्रियों का बोध होता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष उस असंदिग्ध बोध को कहते हैं जो इन्द्रिय संयोग से उत्पन्न होता है और यथार्थ भी होता है।<sup>21</sup>

अन्नंभट्ट के शब्दों में "इन्द्रियार्थ सन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्"<sup>22</sup> अर्थात् इन्द्रिय और वस्तु के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान ही प्रत्यक्ष है। गौतम ने इन्द्रियजन्य ज्ञान की परिभाषा देते हुए कहा है कि "वह ज्ञान जो किसी इन्द्रिय के साथ पदार्थ का संयोग होने से प्रादुर्भूत होता है, जिसे शब्दों द्वारा प्रकट न किया जा सके, जो भ्रमरहित हो और पूर्ण रूप से प्रकट हो रहा हो।"<sup>23</sup>

प्रत्यक्ष की उपर्युक्त परिभाषा का विश्लेषण करने पर इसमें तीन तत्त्व पाये जाते हैं—(क) वस्तु और इन्द्रिय में सन्निकर्ष—प्रत्यक्ष के लिए 'इन्द्रिय—वस्तु—सन्निकर्ष' आवश्यक है। उदाहरणार्थ—आँख से गुलाब का सन्निकर्ष होने पर ही गुलाब की लालिमा का प्रत्यक्ष होता है।

(ख) प्रत्यक्ष भ्रम नहीं है—कभी—कभी इन्द्रिय और वस्तु के सम्पर्क से भ्रम अथवा मिथ्याज्ञान भी मिलता है। इसे प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता है। प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रिय—वस्तु—सन्निकर्ष के साथ—साथ ज्ञान में भ्रम का पूर्णतया निराकरण भी आवश्यक है। अगर साँप को रस्सी समझ लिया जाए या रस्सी को साँप समझ लिया जाय तो इसे प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता है।

(ग) प्रत्यक्ष अनिश्चित नहीं होता है—प्रत्यक्ष हमेशा निश्चित होता है। किसी वस्तु के प्रत्यक्ष में अनिश्चित ज्ञान नहीं होना चाहिए। अगर किसी व्यक्ति का प्रत्यक्ष करने पर यह कहें कि वह या तो मोहन है या राम है तो इसे प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता है। अतः प्रत्यक्ष के लिए सदैव निश्चित होना जरूरी है। गौतम ने तो अपनी परिभाषा में सभी प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान को निश्चयात्मक माना है। इनका कहना है कि यदि हमें इस विषय में सन्देह है कि दूर स्थित पदार्थ मनुष्य है अथवा एक खम्भा है, धूल है या धुआँ है, तो यह प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है।

(घ) प्रत्यक्ष भाषा पर आधारित नहीं है। किसी विषय का प्रत्यक्ष होने पर उसे भाषा के माध्यम के अभिव्यक्त करना जरूरी नहीं है। इसे भाषा में व्यक्त कर भी सकते हैं और नहीं भी कर सकते हैं। यह प्रत्यक्ष करने वालों की इच्छा पर निर्भर है। अर्थात् यह वचनीय और अनिर्वचनीय दोनों के लिये सार्थक सिद्ध होता है।

प्रत्यक्ष की उपर्युक्त परिभाषा अत्यन्त प्राचीन है। अधिकांश भारतीय दार्शनिकों ने इसे सन्तोषप्रद बतलाया है। लगभग सभी पाश्चात्य विद्वानों ने भी इसे सन्तोषप्रद परिभाषा के रूप में मान लिया है। किन्तु नव्य—नैयायिक, वेदान्ती एवं कई अन्य विद्वानों ने इसे दोषपूर्ण बतलाया है। नव्य नैयायिक गंगेश उपाध्याय ने इसमें तीन प्रकार के दोषों की चर्चा की है—(क) अतिव्याप्त परिभाषा का दोष, (ख) अव्याप्ति दोष, (ग) चक्रक दोष। इनका कहना है कि इन्द्रिय—संयोग के बिना भी प्रत्यक्ष ज्ञान संभव हो सकता है।

ईश्वर को सभी विषयों का प्रत्यक्ष ज्ञान है, किन्तु ईश्वर को इन्द्रिय नहीं है। जब रस्सी को भ्रमवश साँप समझ लेता है तो इन्द्रिय संयोग का अभाव रहता है, क्योंकि वहाँ कोई वास्तविक साँप नहीं है, जिसके साथ आँखों का सम्पर्क हो। सुख—दुःख आदि जितने मनोभाव हैं, सभी का प्रत्यक्ष इन्द्रिय संयोग के बिना ही होता है। इससे स्पष्ट है कि इन्द्रिय संयोग प्रत्यक्ष ज्ञान के सभी भेदों का सामान्य लक्षण नहीं है। अतः इन्द्रिय संयोग प्रत्यक्ष के लिए नितान्त आवश्यक नहीं है। प्रत्यक्षों का सामान्य लक्षण इन्द्रिय संयोग नहीं वरन् साक्षात्—प्रतीति है। किसी वस्तु का प्रत्यक्षज्ञान तब होता है, जब उसका साक्षात्कार होता है। अर्थात् जब उस वस्तु का ज्ञान बिना किसी पुराने अनुभव या बिना किसी अनुमान के

होता है। इसीलिए गंगेश उपाध्याय ने प्रत्यक्ष की परिभाषा देते हुए कहा है कि “प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारित्वं लक्षणम्” अर्थात् बिना किसी माध्यम के प्राप्त ज्ञान को ही प्रत्यक्ष कहते हैं। यहाँ साक्षात् प्रतीति को ही प्रत्यक्ष की मुख्य पहचान बतलाया गया है। प्रत्यक्ष का यह सामान्य लक्षण इसे अन्य प्रमाणों से सर्वथा पृथक् कर देता है। अनुमान, उपमान, शब्द आदि किसी भी प्रमाण से साक्षात् ज्ञान नहीं होता है।

प्रत्यक्ष के प्रकार—इसके भेदों का निरूपण कई प्रकार से किया जा सकता है। एक प्रकार से प्रत्यक्ष लौकिक और अलौकिक हो सकता है। साधारण ढंग से जब इन्द्रिय का संयोग वस्तु के साथ होता है तब लौकिक प्रत्यक्ष कहलाता है। लौकिक प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है—बाह्य एवं मनस।

This direct knowledge may arise from external or internal perception. In external perception, we directly know by the exercise of our sense organs (the eye, the ear etc.) that external objects exist outside of us and possess it exists and possesses the quality, brightness. In internal perception (also called introspection) we directly know the states of our own mind, e.g., our joys and sorrows.<sup>24</sup>

बाह्य प्रत्यक्ष आँख, नाक, कान, त्वचा तथा जिह्वा के द्वारा होता है। मनस प्रत्यक्ष मानसिक अनुभूतियों के साथ मन के संयोग से होता है। इस तरह लौकिक प्रत्यक्ष छः प्रकार के होते हैं। दूसरे शब्दों में प्रत्यक्ष ज्ञान को छः भेदों में विभक्त समझना चाहिए, जैसे—घ्राणज, रासन, चाक्षुष, त्वाच, श्रावण और मानस। क्योंकि घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक, क्षोत्र और मन ये छः इन्द्रियाँ हैं। यह सुगन्ध है। यह दुर्गन्ध है। यह ज्ञान घ्राणज प्रत्यक्ष है। क्योंकि घ्राण के पास गन्धवाली वस्तु के जुटने पर घ्राण से उस गन्ध का प्रत्यक्ष होता है।<sup>25</sup>

प्रत्यक्ष जन्य इन्द्रियार्थ—संबंध ही सन्निकर्ष कहलाता है। कहीं भी जब इन्द्रिय के साथ द्रष्टव्य पदार्थ का संबंध होता है, तभी उस पदार्थ का प्रत्यक्ष होता है। घट के साथ जब आँख जुटती है तब यह घड़ा है, ऐसा ज्ञान होता है। यद्यपि सन्निकर्ष लौकिक और अलौकिक ज्ञान रूप में दो प्रकार का है किन्तु अन्नभट्ट ने जिन सन्निकर्षों का उल्लेख किया है, वे सभी लौकिक ही हैं, अलौकिक नहीं।

जहाँ तक लौकिक प्रत्यक्ष के अन्तर्गत अन्तरिन्द्रिय का प्रश्न है, वह मन ही है। इसके द्वारा आत्मा की इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख तथा दुख का प्रत्यक्ष होता है। इसीलिए विश्वनाथ पंचानन ने लिखा है—“साक्षात्कारं सुखदुखादीनां कारणं मन उच्चयते”। मन शब्द का अर्थ ही होता है—“मन्यते अनेन इति मनः” अर्थात् जो मनन का साधन यानी सोचने समझने का द्वार है, वही मन है। गौतम ने स्वयं भी बतलाया है कि “ज्ञानायोगपद्यात एक मनः”। S.C. Chatterji के शब्दों में “There is only one internal sense called *manas* or *mind*”. यह



बाह्य इन्द्रियों की तरह भूतों का बना हुआ नहीं है। इनकी ज्ञानशक्ति किसी विशेष प्रकार की वस्तुओं के ज्ञान में ही सीमित नहीं रहती। वह सभी प्रकार के ज्ञानों के बीच सामंजस्य स्थापित करने के लिए केन्द्रीय इन्द्रिय का काम करता है। न्याय की तरह वैशेषिक, सांख्य, मीमांसा प्रभृति भी मन को अन्तरिन्द्रिय मानते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय के साठवें श्लोक में बतलाया गया है कि "Turbulent by nature, the senses even of a wise man who is practising self-control, forcibly carry away his mind, Arjuna" इसीलिये 61वें श्लोक में बतलाया गया है—

**तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।**

**वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥**

फिर 67वें श्लोक में बतलाया गया है "As the wind carries away a boat upon the waters, even so of the senses moving among sense-objects, the one to which the mind is joined takes away his discrimination." अतः इन्द्रियों का नियंत्रक मन ही है इसलिये मन को वश में करने की बात बतलाई गई है।

दूसरी दृष्टि से लौकिक प्रत्यक्ष के तीन प्रकार हो जाते हैं—निर्विकल्पक प्रत्यक्ष, सविकल्पक प्रत्यक्ष एवं प्रत्यभिज्ञा। किसी वस्तु का अनिश्चित प्रत्यक्ष ही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है। इसमें वस्तु के अस्तित्व का आभास मात्र मिलता है। यहाँ वस्तु का पूर्ण ज्ञान नहीं होता है। इसीलिए अन्नभट्ट ने लिखा है—“निष्प्रकारकं ज्ञानम् निर्विकल्पकम्” यानी निष्प्रकारक ज्ञान ही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहलता है। निर्विकल्पक ज्ञान के सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं है, ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि “गौरिति विशिष्टज्ञानं विशेषणज्ञानजन्यं विशिष्टज्ञानत्वात्” अर्थात् यह गाय है आदि विशिष्ट—ज्ञान विशेषण—ज्ञान जन्य है क्योंकि विशिष्ट—ज्ञान है। जो विशिष्ट—ज्ञान होता है वह विशेषण—ज्ञानजन्य अवश्य होता है, जैसे यह दण्डी है, आदि ज्ञान, यह अनुमान प्रमाण रूप से विद्यमान है। विशेषण ज्ञान को भी यदि सविकल्पक माना जाए तो अनवस्था होगी। इस प्रकार निर्विकल्पक ज्ञान की सिद्धि होती है। अतः यह प्रमाण भले ही किसी वस्तु का पूर्ण ज्ञान नहीं देता है, फिर भी प्रमाण की कोटि में आता है। इसमें वस्तु के अस्तित्व का मात्र आभास होता है। जैसे गहरी नींद में सोचते रहने पर कभी—कभी खट—खट की आवाज का ज्ञान होता है, परन्तु यह पता नहीं चलता है कि यह आवाज किसकी है। इसी तरह परीक्षा देते समय विद्यार्थी बाहर की आवाज सुनता रहता है, किन्तु लिखने में मग्न रहने के कारण वह उन आवाजों का पूर्ण अर्थ नहीं समझ पाता है।

**सविकल्पक प्रत्यक्ष**—निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का विकसित रूप ही सविकल्पक प्रत्यक्ष है। इस प्रकार के प्रत्यक्ष में वस्तु का केवल आभास ही नहीं मिलता बल्कि उसका पूर्ण अर्थ ज्ञात हो जाता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष और सविकल्पक

प्रत्यक्ष में ठीक वही सम्बन्ध है, जो मनोविज्ञान के क्षेत्र में संवेदना और प्रत्यक्षीकरण में है। अर्थपूर्ण संवेदना को प्रत्यक्षीकरण कहते हैं। इसी तरह अर्थपूर्ण निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही सविकल्पक प्रत्यक्ष है। इसीलिए नैयायिकों ने सविकल्पक ज्ञान से पहले निर्विकल्पक ज्ञान की आवश्यकता पर जोर दिया है। पहले वस्तु को एवं मनुष्यत्व को जान लेने के बाद ही “यह मनुष्य अर्थात् मनुष्यत्व (विशिष्ट) है” ऐसा विशेष्य-विशेषण रूप से ज्ञान संभव है। इसी तरह अगर हम कोई आवाज सुनें और यह भी समझ लें कि यह आवाज अपने सुग्गे की है तो यह सविकल्पक प्रत्यक्ष कहलायेगा। अतः यह कहना ठीक है—“सप्रकारकं ज्ञानं सविकल्पकम्।”<sup>26</sup>

इस सम्बन्ध में जयन्त भट्ट ने बतलाया है कि निर्विकल्प और सविकल्प दोनों प्रत्यक्ष में वस्तु की आत्मा एक ही रहती है, सिर्फ भेद इतना है कि निर्विकल्प में वह ‘अनाख्यात’ अथवा अव्यक्त रहती है और सविकल्प में अख्यात अथवा व्यक्त हो जाती है।

सविकल्पक ज्ञान दो भागों में बांटा जा सकता है—जैसे “व्यवसाय और अनुव्यवसाय”। व्यवसाय—ज्ञान वह है, जिसमें ज्ञान—रहित वस्तु का भान होता है। अनुव्यवसाय वह होता है, जिसमें ज्ञान—सहित वस्तु का विषयीकरण होता है। जैसे यह मैं जानता हूँ कि यह नीली साड़ी है, किन्तु ज्ञान सम्बन्ध में विद्वानों के बीच मतैक्य नहीं है।

**प्रत्यभिज्ञा**—पहचान ही प्रत्यभिज्ञा है। यानी प्रत्यभिज्ञा पहचान को कहते हैं। पारिभाषिक शब्दावली में हम कह सकते हैं कि पूर्वानुभूति के आधार पर किसी व्यक्ति या वस्तु को पहचान लेना ही प्रत्यभिज्ञा है। इसमें स्मृति और इन्द्रिय दोनों के सहयोग से ज्ञान मिलता है। इसीलिए इसे भूत और वर्तमान का संगम कहा जाता है। यदि किसी व्यक्ति को देखने से ही साक्षात् अनुभव हो कि यही वह मनुष्य है (जिसे पहले देखा था) तो इस ज्ञान को प्रत्यभिज्ञा कहेंगे। इस प्रत्यक्ष में प्रत्यक्ष अनुभव का भाव अवश्य वर्तमान रहता है। नैयायिकों ने प्रत्यक्ष का निर्विकल्पक, सविकल्पक तथा प्रत्यभिज्ञा में जो भेद किया है, उसे बौद्ध एवं अद्वैत वेदान्ती नहीं मानते हैं।

प्रत्यभिज्ञा (सं. स्त्री.)—वह ज्ञान जो किसी देखी हुई वस्तु को अथवा उसके समान किसी अन्य वस्तु के फिर से देखने पर उत्पन्न हो।<sup>27</sup>

**अलौकिक प्रत्यक्ष**—वस्तु का इन्द्रिय के साथ असाधारण सन्निकर्ष होने से अलौकिक प्रत्यक्ष होता है। लौकिक सन्निकर्षज प्रत्यक्षी ने जहाँ विषय के साथ इन्द्रियों के सम्बन्धस्वरूप से संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय एवं विशेषणविशेष्यभाव इनके अन्दर कोई एक के साथ सन्निकर्ष होता है। यहाँ सन्निकर्षों की अपेक्षा होती है। वहीं अलौकिक प्रत्यक्ष उक्त संयोग आदि से उत्पन्न नहीं होता है।<sup>28</sup> इसलिए उसकी अपेक्षा नहीं रखता है।

अलौकिक प्रत्यक्ष को भी तीन भागों में विभक्त किया गया है, वे हैं—(क) सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष अथवा धर्मप्रत्यक्षमूलक धर्मविशिष्ट धर्मी—समुदाय का प्रत्यक्ष,

(ख) ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष अथवा विशेषण स्मरण मूलक विशिष्ट प्रत्यक्ष एवं (ग) योगज ।

(क) सामान्य लक्षणाजन्य (Class perception)—किसी व्यक्ति या वस्तु विशेष को देखकर उसकी जाति का प्रत्यक्ष होना ही सामान्य लक्षणाजन्य अथवा सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष है। न्यायदर्शन के मुताबिक व्यक्तिविशेष में उसकी जाति निहित है। इसलिए जब किसी व्यक्ति का प्रत्यक्ष होता है तो उसमें निहित जाति का भी प्रत्यक्ष हो जाता है। उदाहरण के लिए किसी मनुष्य विशेष को देखते ही उसकी जाति (मनुष्यत्व) का प्रत्यक्ष हो जाता है। इसी तरह किसी घड़े को देखकर जो भावी एवं अतीत दूरवर्ती एवं निकटवर्ती सभी घड़ों का समूहात्मक ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष कहलाता है क्योंकि एक घड़े के साथ आँख जुटने पर जो घटत्व उस घड़े में देखा जाता है, वही संसार के समग्र घटों में रहता है। अतः घटत्व स्वरूप सामान्य का अर्थात् सकल घट साधारण धर्म का जब ज्ञान होता है तो वही ज्ञान असाधारण कारण बनकर स्वविषय घटकत्व के आश्रयीभूत समग्र घटों का प्रत्यक्ष करा देता है।

*Sîmînyalakṣaṇa* perception is the perception of the universals. According to *Nyîya*, the universals are a distinct class of reals. They inhere in the particulars which belong to different classes on account of the different universals inhering in them. An individual belongs to class because the universal of that class inheres in it. Thus a cow becomes a cow because it has the universal cowness inhering in it.<sup>29</sup>

(ख) ज्ञान लक्षणाजन्य अथवा ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष (Complicative perception)—अगर एक इन्द्रिय के कार्य को दूसरी इन्द्रिय करने लगे तो ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष होता है। इसे यों कहा जाए कि ज्ञान लक्षणाजन्य अथवा ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष वह है, जहाँ कोई दूर से चन्दन काष्ठ ले जाता है तो दूरता-प्रयुक्त घ्राण के साथ सम्बन्ध न होने पर आँख से ही वहाँ “यह चन्दन सुगन्धित है” इस प्रकार से प्रत्यक्ष होता है। वहाँ सुगन्ध का स्मरण ही सुगन्ध विशिष्ट चन्दन के प्रत्यक्ष में कारण अर्थात् असाधारण कारण हो जाता है। आँख का कार्य है देखना और नाक का कार्य है गन्ध का पता लगाना। यहाँ पूर्वानुभूति के आधार पर हम आँखों से देखकर ही किसी वस्तु के सुगन्धित अथवा दुर्गन्धित होने का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। इसी प्रकार जब हम आँखों से देखते ही हरी घास को मुलायम और बर्फ को ठंडा बतला देते हैं। यहाँ घास के मुलायम और बर्फ के ठंडा होने का ज्ञान आँखों के द्वारा ही हो जाता है। वस्तुतः यह त्वचा का काम था। किन्तु पूर्वानुभूति के आधार पर हम आँखों से देखकर ही किसी वस्तु के मुलायम या कठोर, ठंडा होने का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं तो यही ज्ञान ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष कहलाता है। साधारणतः प्रत्येक इन्द्रिय का अपना अलग-अलग विषय होता है। अतः जब एक इन्द्रिय से दूसरी इन्द्रिय के विषय का ज्ञान होने

लगे तो उसे ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष समझना चाहिए। यहां गत अनुभव एवं पूर्व अनुभव की प्रधानत रहती है।

The second kind of extra ordinary perception is called *jñāna lakṣṇa* perception. It is the complicated perception through association sometimes different sensation become associated and from one integrated perception. Here an object is not directly presented to a sense organ, but is revived in memory through the past cognition of it and is perceived through representation. जैसे एक मित्र दूसरे मित्र के कार्य सम्पन्न कर देता है (पूर्व सम्बन्ध ज्ञान के आधार पर) उसी प्रकार एक इन्द्रिय दूसरे इन्द्रिय अथवा इन्द्रियों के काम को अपने कार्य की तरह सम्पन्न कर देने में सहायता प्रदान करता है। यह गत-अनुभव एवं गत-सम्बन्ध पर आधारित ज्ञान है।

**(ग) योगज (Intuitive perception)**—यह वह प्रत्यक्ष है, जिसमें योगियों को अबाधित रूप से पदार्थों का साक्षात्कार होता है। इस सम्बन्ध में एस. सी. चटर्जी ने लिखा है—“The third kind of extra-ordinary perception is called *yogaja*. It is the intuitive and imediate perception of all objects—past, distant and future, possessed by the yogins through the power of meditation. It is like the *kevalajñāna* of the Jains, the Bodhi of the Buddhist, the *kevalya* of *Sāṅkhya*—yoga and the *Aparokṣanubhuti* of the *Vedāntins*. It is intuitive suprasensuous and supra-relational.”<sup>30</sup> वस्तुतः न्यायदर्शन कुछ ऐसे योगियों को मानता है, जो सभी कालों की वस्तुओं का प्रत्यक्ष कर सकते हैं। अति सूक्ष्म, अति दूरस्थ एवं बाधित वस्तुओं का प्रत्यक्ष करने में भी ये पूर्णतया समर्थ हैं। इनके सम्मुख समय और दूरी का कोई व्यवधान या रुकावट नहीं है। इन योगियों के द्वारा किया गया प्रत्यक्ष ही योगज कहलाता है। पतंजलि के योगसूत्र में यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। कैवल्य प्राप्त व्यक्ति ही योगज का मर्म जानते हैं और योगज से कैवल्य की प्राप्ति होती है। कुछ विद्वानों ने “प्रतिभा” नामक प्रत्यक्ष को भी एक प्रकार का प्रत्यक्ष माना है। वस्तुतः उसे योगज के अन्तर्गत ही मानना चाहिए क्योंकि छोटे बच्चों को जो भावी पदार्थों का ज्ञान होता है, जैसे पूछने पर छोटी बच्ची कहती है कि “भाई आज आयेगा” और ठीक आता भी है, वहाँ मानना होगा कि विशुद्ध-अन्तःकरण गत संस्कार ही असाधारण कारण होता है और योगजस्थल में भी यही बात होती है, क्योंकि योग से योगियों का अन्तःकरण विशुद्ध होने पर ही तद्गत संस्कार के सहारे योगज प्रत्यक्ष होता है इसीलिये योगी को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी इस बात की सम्पुष्टि की गई है। इसीलिये षष्ठ अध्याय के 46वें श्लोक में बतलाया गया

है कि “तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः। कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन।।”

उपर्युक्त अलौकिक-प्रत्यक्षों के अन्दर प्रथम है-सामान्य लक्षणाजन्य प्रत्यक्ष और द्वितीय ज्ञान लक्षणाजन्य-प्रत्यक्ष विशिष्ट प्रत्यक्ष के लिए विशेषण का ज्ञान सामान्य लक्षणा सन्निकर्ष कहा जाता है, और विशेषण प्रत्यक्ष के लिए विशेषण का स्मरण ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष कहलाता है।

पाश्चात्य विचारकों की दृष्टि में भले ही ये योगी काल्पनिक हों, किन्तु भारतीयों एवं विशेषकर नैयायिकों के लिए इनका अस्तित्व असंदिग्ध है। ऐसे योगियों की उपस्थिति भारत में हर युग में रही है। भगवान महावीर, गौतमबुद्ध, महर्षि गौतम, कणाद, वेद व्यास, शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, तुलसीदास, कबीरदास, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, पतंजलि, अर्वाचीन युग में अरविन्द घोष, स्वामी विवेकानन्द, ओशो रजनीश इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

### सार्थक वाक्य के गुण

सार्थक वाक्य की विवेचना करते हुए सी.डी. शर्मा ने ठीक ही लिखा है—  
“Verbal Testimony—A word is a po..... which signifies an object and a sentence is a collection of words. But a sentence in order to be intelligible must conform to certain..... These conditions are four—*îk î #k 7 î, yogyata, sannidhi and t îtparya.*”<sup>31</sup>

पदों के समूह को ‘वाक्य’ कहते हैं। लेकिन सभी पदों के समूह को वाक्य नहीं कहा जा सकता है। अतः वाक्य पदों का वह समूह है, जिससे कोई अर्थ निकले। किसी भी प्रकार का समूह अर्थपूर्ण वाक्य नहीं समझा जा सकता है। किसी वाक्य के अर्थ को शब्दबोध कहते हैं। शब्द बोध के लिए वाक्य का अर्थ अबाधित भी होना चाहिए। जिस वाक्य का अर्थ बाधित होता है, उससे श्रोता को अर्थबोध नहीं होता है। इसलिए किसी अर्थपूर्ण वाक्य के लिए चार बातें आवश्यक हैं—आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि एवं तात्पर्य। अन्नभट्ट ने भी लिखा है—“आकांक्षा योग्यता सन्निधिश्च वाक्यार्थ ज्ञाने हेतुः”<sup>32</sup>

सी.डी. शर्मा के शब्दों में, “The first is mutual impression expectancy. The words of a sentence are inter related and stand in need of one another in order to express a complete sense. A mere aggregate of unrelated words will not make a logical sentence.”<sup>33</sup>

(क) आकांक्षा—किसी वाक्य के पदों को आपस में एक-दूसरे की अपेक्षा रहती है। इसे ही आकांक्षा कहते हैं। यानी शब्द बोध वहाँ होता है, जहाँ वाक्य के अन्तर्गत पदों में परस्पर अपेक्षारूप आकांक्षा समझी जाती है। वाक्य शब्दों के मेल से बनते हैं। इसलिए जरूरी है कि किसी वाक्य के शब्दों में पारस्परिक आकांक्षा हो। दूसरे शब्दों में इसके उद्देश्य और विधेय में परस्पर अन्वय का होना अनिवार्य है। वाक्य के शब्दों में एक-दूसरे की आकांक्षा या अपेक्षा होनी

चाहिए। जब तक यह अपेक्षा (शब्दों के एक साथ रहने की आकांक्षा) पूरी नहीं होती तब तक वाक्य सार्थक नहीं कहा जा सकता है। अन्नभट्ट ने लिखा है—“पदस्य पदान्तरव्यतिरेक प्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वमाकांक्षा”।<sup>34</sup>

अर्थात् जिस दूसरे शब्द के उच्चारण हुए बिना जब किसी अन्य शब्द का अभिप्राय समझ में न आवे तो इस प्रकार के उन दोनों पदों के सम्बन्ध को आकांक्षा कहा जाता है। उदाहरण के लिए यदि वक्ता एक साँस से बोल जाए कि “गैया बैल आदमी हाथी” तो इस वाक्य से श्रोता को कोई अर्थ बोध नहीं होता है। क्योंकि “गैया” इस पद से “बैल” इस पद की कोई अपेक्षा नहीं मालूम होती है। इसी तरह अगर कोई कहे कि “लाओ” तो इससे सार्थक वाक्य नहीं बन जाता क्योंकि इस शब्द को अन्य शब्दों की अपेक्षा है। अब यदि कहा जाय कि पुस्तक लाओ तो यह सार्थक बन जाता है क्योंकि यहाँ आकांक्षा पूरी हो जाती है। इसी तरह यदि यह बोला जाय कि “गैया आती है”, “बैल जाता है” तो इस वाक्य से अर्थबोध होता है, क्योंकि क्रिया पद से कारक पद को और कारक पद से क्रिया पद की अपेक्षा होती है। “गैया” यह कारक पद है, “आती है” यह क्रिया पद है। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी समझना चाहिए। इस प्रकार जिन शब्दों में पारस्परिक आकांक्षा न हो उनसे सार्थक वाक्य नहीं बन सकता है।

**(ख) योग्यता**—वाक्य की दूसरी आवश्यकता उसके पदों की योग्यता है। वाक्य के पदों के द्वारा जिन वस्तुओं का बोध होता है, उनमें यदि कोई विरोध न हो तो इस विरोध के अभाव को योग्यता कहते हैं। इसीलिए अन्नभट्ट ने लिखा है—“अर्थाबाधो योग्यता”। यानी सार्थक वाक्य के लिए यह आवश्यक है कि इसके शब्दों में साथ रहने की आकांक्षा हो और इनमें परस्पर सामन्जस्य पाया जाय। इसे यों कहा जाय कि किसी वाक्य के शब्दों में पारस्परिक विरोध या असंगति नहीं होनी चाहिए, अर्थात् उद्देश्य और विधेय को परस्पर विरोधी नहीं होना चाहिए तभी ये किसी वाक्य में एक साथ रह सकते हैं। जिन शब्दों के मिलने से सही अर्थ निकले, उनमें साथ रहने की योग्यता समझनी चाहिए। इसके विपरीत यदि उद्देश्य और विधेय में परस्पर आकांक्षा रहने पर भी साथ रहने की योग्यता न हो तो सार्थक वाक्य नहीं बन सकता है। जैसे कोई कहे कि “अग्नि से सींच रहा है” तो इस वाक्य से अर्थ बोध नहीं होता है, क्योंकि सिंचन जल से ही हो सकता है, अग्नि से नहीं। इस प्रकार के वाक्य—प्रयोगस्थल में श्रोता को अर्थोपस्थिति अर्थात् पदार्थों का विशृंखलभाव से समरणमात्र होकर रह जाता है—इसी अर्थगत आबाधित्व यानी अर्थबोध को दार्शनिक लोग “योग्यता” कहते हैं।<sup>35</sup> योग्यता का ज्ञान यदि अभ्रान्त अर्थात् यथार्थ है, तो शब्द बोध यथार्थ होता है। कुछ लोग अयोग्यता ज्ञान को शाब्दबोध के प्रति प्रतिबन्धक मानते हैं, इसी से उक्त अयोग्यता वाक्य से वाक्यार्थबोध नहीं होता है।<sup>36</sup>

**(ग) आसक्ति या सन्निधि**—वाक्य की तीसरी आवश्यकता सन्निधि या आसक्ति है। वाक्य के पदों का एक-दूसरे से सामीप्य होना ही सन्निधि है।

अन्नंभट्ट ने भी कहा है—पदानाम् अविलम्बेन उच्चारणं सन्निधिः।<sup>37</sup> कोई वाक्य तभी अर्थसूचक हो सकता है, जब उसके पदों में समय एवं स्थान की दृष्टि से नैकट्य हो। यदि उनके समय का बहुत अन्तर रहे तो उनसे वाक्य नहीं बन सकते हैं। उसी प्रकार यदि उनके बीच स्थान का बहुत अन्तर रहने पर भी वाक्य नहीं बनता। एक—गाय—लाओ। इन पदों में आकांक्षा और योग्यता के रहने पर भी इनसे वाक्य नहीं बन सकता है। अगर ये एक—एक कर तीन दिनों में बोले जाएं या तीन पृष्ठों पर अलग—अलग लिखे जाएँ।<sup>38</sup> अब जाहिर है कि यदि किसी वाक्य के शब्दों में योग्यता भी हो और आकांक्षा भी हो परन्तु सन्निधि न हो तो वाक्य सार्थक नहीं हो सकता है। वाक्य की सार्थकता के लिए आवश्यक है कि इसके शब्द परस्पर निकट हों। बिना व्यवधान के उच्चरित पद ही सार्थक वाक्य का निर्माण करते हैं। पदों की समीपता देश और काल में होती है। इसी समीपता या निकटता को आसक्ति या सन्निधि कहते हैं।

**(घ) तात्पर्य**—वक्ता की इच्छा को ही दार्शनिकों ने तात्पर्य कहा है। वक्ता की इच्छा का ज्ञान भी शाब्द बोध के प्रति कारण होता है। वाक्य के अर्थ अनेक होने पर भी श्रोता वक्ता की जैसी इच्छा समझता है, अर्थात् “यह वक्ता इस अर्थ को समझाने के लिए इस वाक्य का प्रयोग कर रहा है” ऐसा समझता है तदनु रूप ही वाक्य से अर्थबोध करता है। जैसे भोजन करते समय वक्ता ने कहा—“सैन्धव ले आओ” तो श्रोता यही समझता है कि सेंधा नमक लाने को कहा गया है। वह यह नहीं समझता कि सिन्ध देश का घोड़ा लाने के लिए कहा गया है। यद्यपि सैन्धव शब्द नमक और घोड़ा दोनों का समान रूप से वाचक है, फिर भी बोध दोनों का एक काल और स्थान में नहीं होता है। अब स्पष्ट है कि किसी वाक्य को सार्थक तभी कहा जा सकता है जब वक्ता के कथन का सही अभिप्राय समझ में आ जाय। जब तक अपराधी के अपराध का पता नहीं चलता है तब तक न्याय देने में न्यायाधीश को बेहद कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अभिप्राय का पता चलने पर ही न्यायाधीश सजा देते हैं अथवा समा से मुक्त करने की घोषणा करते हैं। अतः अर्थपूर्ण वाक्य के लिए तात्पर्य का सबसे अधिक महत्त्व है। नीतिशास्त्र में भी इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। लोक कल्याण की भावना अथवा उत्तम तात्पर्य के कारण ही वैदिक वाक्य को अकाट्य एवं अपौसषेय बतलाया गया है। अर्थात् वैदिक वाक्य की सार्थकता एवं असंदिग्धता का कारण तात्पर्य (“सर्वभूत हितैः रताः” की अवधारणा) ही है। तात्पर्य के कारण ही मनु ने ब्राह्मणों (ज्ञानियों) के चोरी करने पर अधिक दण्ड देने की बात की है और शूद्रों (अज्ञानियों) के चोरी करने पर बहुत कम दण्ड देने का विधान किया है। अतः अर्थपूर्ण वाक्य के लिए प्राच्य एवं पाश्चात्य दोनों दर्शनशास्त्र में तात्पर्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारत में मनु, बृहस्पति, शुक्राचार्य, कौटिल्य से लेकर आज तक अधिकांश चिन्तकों ने तात्पर्य को ही अधिक महत्त्व प्रदान किया है और आगे भी इसी की संभावना है।

---

---

अध्याय-4  
अनुमान

---

---



जिस साधन से यथार्थ ज्ञान (प्रभा) की प्राप्ति हो उसे प्रमाण कहा जाता है। प्रमाण पर अधिक जोर देने के कारण ही इसे (न्यायदर्शन) कभी-कभी प्रमाण शास्त्र भी कहा जाता है। यथा-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द को स्वीकार किया है।

अब अनुमान के स्वरूप की विवेचना करना उचित प्रतीत होता है। अनुमान दो शब्दों के योग से बना है-अनु+मान्। अनु का अर्थ पश्चात् और मान् का अर्थ ज्ञान होता है। यानी अनुमान का शाब्दिक अर्थ पश्चाद् ज्ञान है। अब प्रश्न उठता है कि अनुमान किस ज्ञान के पश्चात् या बाद आता है? दूसरे शब्दों में अनुमान का आकारिक आधार क्या है?

साधारणतः प्रत्यक्ष ही अनुमान का आकारिक आधार माना जाता है। प्रत्यक्ष के बाद ही अनुमान का स्थान आता है। कुप्पू स्वामी शास्त्री ने ठीक ही लिखा है—“*Anumâna* as its etymological sense indicates is after-proof. It is after-proof in the sense that it uses the knowledge derived from perception or verval testimony (*îgama*) and helps the mind to march on further and add to its knowledge.”

पर्वत पर धूम का प्रत्यक्ष होने पर ही हम वहां अग्नि की उपस्थिति का अनुमान करते हैं। इसी तरह किसी विद्यार्थी को कठोर परिश्रम करते देखकर उसके प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होने का अनुमान किया जाता है। महर्षि गौतम, वात्स्यायन आदि ने अनुमान को प्रत्यक्ष के बाद ही बतलाया है। गौतम ने अनुमान के लिए तत्पूर्वकम शब्द का प्रयोग किया है। वात्स्यायन ने कहा है कि “प्रत्यक्ष के अभाव में कोई अनुमान संभव नहीं है।” K.P. Bahadur ने लिखा है—“Inference is knowledge which preceded by perception, and is of three varieties, viz.; apriori, aposteriori and what is commonly seen.” इसी तथ्य को पाश्चात्य विचारकों ने इस प्रकार व्यक्त किया है, “ज्ञात के आधार पर अज्ञात का ज्ञान प्राप्त करना ही अनुमान है।”

अनुमान से अभिप्राय है “चिह्न द्वारा किसी वस्तु का ज्ञान किया जाना।”<sup>39</sup>

कभी-कभी अनुमान का आधार ‘आगम’ (शास्त्रवचन) भी कहा जाता है। वात्स्यायन प्रत्यक्ष के साथ-साथ आगम को भी अनुमान का आकारिक आधार मानते हैं। उन्हीं के शब्दों में “प्रत्यक्षागमाश्रितमेवानुमानम्”। अर्थात् प्रत्यक्ष अथवा आगम पर आधारित ज्ञान ही अनुमान है। आगम को अनुमान का आधार तब माना जाता है जब प्रत्यक्ष द्वारा इसका आधार नहीं मिलता है। जैसे आगम द्वारा आत्मा की अमरता का ज्ञान होने पर हम इसके निरवयव होने का अनुमान करते हैं।

चटर्जी एवं दत्त ने अनुमान की परिभाषा देते हुए कहा है कि “Inference is a process of reasoning in which we pass from the apprehension of some mark (Linga) to that of something else, by

virtue of a relation of invariable concomitance (*vyâpti*) between the two.” अर्थात् अनुमान बुद्धि की वह प्रक्रिया है, जिसमें किसी लिंग या हेतु के ज्ञान के आधार पर किसी दूसरी वस्तु का ज्ञान प्राप्त किया जाता है, क्योंकि उस वस्तु तथा लिंग के बीच व्याप्ति-सम्बन्ध का ज्ञान रहता है। उदाहरण के लिए धूम (लिंग या हेतु) के प्रत्यक्ष के आधार पर आग का ज्ञान प्राप्त किया जाता है चूंकि धूम और आग के बीच व्याप्ति-सम्बन्ध का ज्ञान पूर्व से ही रहता है। इसीलिए एस.सी. चटर्जी ने लिखा है—“An *unumana* has been defined in the *Nyâya* system as the knowledge of an object, not by direct observation, but by means of knowledge of a *linga* or sign and that of its universal relation (*vyâpti*) with the inferred object.”

अनुमान के अवयव-अनुमान में तीन पद और कम से कम तीन वाक्य होते हैं। पद-लिंग या हेतु, साध्य एवं पक्ष।

कप्पूस्वामी शास्त्री के अनुसार—“Students of *Nyâya*, before they proceed to study the chapter on *anumâna*, should start with a clear conception of the meaning of the technical terms.<sup>40</sup> *Pakṣa*, *sadhya* and *hetu* or *sadhana*,.....*pakṣa* corresponds to the minor term, the term *pakṣa* itself standing for the substantive with reference to which something has to be inferred or inferentially predicted, the term denoting *sadhya* corresponds to the major term.....”<sup>41</sup>

जो वस्तु सिद्ध की जाए, उसे ‘साध्य’ और जिसके द्वारा वह सिद्ध की जाती है, उसे साधन कहते हैं।<sup>42</sup> हेतु उसे कहते हैं, जिसके द्वारा पक्ष के सम्बन्ध में साध्य सिद्ध किया जाता है। साध्य का सम्बन्ध पक्ष के साथ है। यह हेतु के द्वारा ही सिद्ध होता है। साध्य उसे कहते हैं, जो पक्ष के सम्बन्ध में सिद्ध किया जाता है। पक्ष अनुमान का वह अंग है, जिसके सम्बन्ध में अनुमान किया जाता है। वाक्य-निगमन, हेतु और व्याप्ति वाक्य। न्यायशास्त्र में इसे स्वार्थानुमान का उदाहरण बतलाया गया है क्योंकि यहाँ अपनी शंका के समाधान के लिए या दूसरों के सम्मुख किसी तथ्य को सिद्ध करने के लिए अनुमान किया गया है। नैयायिकों के तीनों पद साध्य, पक्ष और हेतु पाश्चात्य न्याय में क्रमशः वृहत्पद, लघुपद एवं मध्यवर्तीपद के नाम से पुकारे जाते हैं। उदाहरण के लिए “जहां-जहां धुआं है वहां-वहां आग है। इस पहाड़ पर धुआं है, अतः इस पहाड़ पर आग है।” इस उदाहरण में धुआं लिंग या हेतु है। लिंग या हेतु का अर्थ चिह्न है। ऊपर के उदाहरण में धुआं लिंग या हेतु है। लिंग या हेतु को साधन भी कहा जाता है। आग साध्य है और पहाड़ पक्ष है। धुआं यहां साधन अथवा चिह्न है और अग्नि साध्य है।<sup>43</sup>

अनुमानं द्विविधं स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वार्थं स्वानुमितिहेतुः। तथाहि स्वयमेव भूयोदर्शनेन यत्रयत्रधूमसात्रत्राग्निरिति महानसादौ व्याप्तिं गृहीत्वा पर्वतसमीपंगतः,

तदगतेचाग्नी सन्दिहानः पर्वते धूमं पश्चन व्याप्ति स्मरति यत्र धूम सामाग्निरिति । तदनन्तरं वहिन व्याप्यधूमवानयं पर्वत इति ज्ञान मुत्पद्यते । अयमेव लिंगपरामर्श इत्युच्यते । तस्मात् पर्वतोवाहिनमानितिज्ञानमनुमिति रूप्पद्यते । तदेतत्स्वार्थानुमानम् । अर्थात् अनुमान के प्रभेद दो हैं—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान । स्वार्थ अनुमिति का हेतुभूत अनुमान कहलाता है—स्वार्थानुमान । तदनन्तर यह पर्वत वहिनव्याप्य धूम युक्त है । ऐसा ज्ञान उस व्यक्ति को उत्पन्न होता है, यही कहलाता है लिंग परामर्श । तब उसे पर्वत अग्नि युक्त है, यह अनुमिति स्वरूप ज्ञान उत्पन्न होता है । इस प्रकार स्वार्थानुमिति का हेतुभूत ज्ञान कहलाता है । नियत और अनौपाधिक सम्बन्ध को ही व्याप्ति सम्बन्ध कहा जाता है और यही व्याप्ति सम्बन्ध अनुमान का आधार है ।

### न्याय के अनुसार अनुमान के विभिन्न भेद

न्याय दर्शन में तीन दृष्टिकोण से अनुमान के वर्गीकरण किये गये हैं—(क) प्रयोजन के अनुसार (ख) प्राचीन न्याय अथवा गौतम के अनुसार एवं (ग) नव्य न्याय के अनुसार ।

प्रयोजन के अनुसार अनुमान दो तरह के होते हैं—(1) स्वार्थानुमान एवं (2) परार्थानुमान । अनुमान दो उद्देश्यों से किये जा सकते हैं—अपनी शंका के समाधान के लिए अथवा दूसरों के सम्मुख किसी तथ्य को सिद्ध करने के लिए । जब अनुमान अपनी शंका के समाधान के लिए किया जाता है तो उसे 'स्वार्थानुमान' कहते हैं । आनन्द झा के शब्दों में—'स्वार्थानुमिति वह है, जहां उद्देश्य उपदेशक भाव का प्रयोजन नहीं होता है । अनुमाता अनुमापक हेतु को प्रकृतधर्मी में देखकर स्वयं अनुमेय की अनुमिति उस धर्मी में कर लेता है । जैसे कोई मनुष्य पर्वत से उठने वाली धूम शिखा को देखकर "यह पर्वत अग्नि वाला है" इस प्रकार अनुमिति करता है । ऐसी अनुमिति स्वार्थानुमिति कहलाती है । यानी कभी—कभी हम अपने ज्ञान के लिए अनुमान करते हैं । इसे स्वार्थानुमान कहा जाता है । ऐसे अनुमान में तीन तरह के वाक्य रहते हैं—निगमन, हेतु और व्याप्ति वाक्य । जैसे राम मरणशील है—निगमन । क्योंकि वह मनुष्य है—हेतु एवं सभी मनुष्य मरणशील हैं—व्याप्तिवाक्य अथवा उदाहरण—पाश्चात्य तर्कशास्त्र में वृहत् वाक्य, लघुवाक्य एवं निष्कर्ष कहे जाते हैं । नैयायिकों के तीनों पद साध्य, पक्ष एवं हेतु को पाश्चात्य न्याय में क्रमशः वृहत् पद, लघुपद और मध्यवर्ती पद कहा जाता है ।

जब अनुमान दूसरों को समझाने के लिए किया जाता है तो उसे परार्थानुमान कहा जाता है । दूसरे शब्दों में कभी—कभी किसी बात को दूसरों को समझाने के लिए भी अनुमान करते हैं । यह परार्थ अनुमान कहलाता है । इसमें पाँच वाक्य होते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, व्याप्ति वाक्य, उपनय एवं निगमन । इसे 'पंचावयव न्याय' कहते हैं । उदाहरण के लिए—

(1) राम मरणशील है—प्रतिज्ञा ।

(2) क्योंकि वह एक मनुष्य है—हेतु।

(3) सभी मनुष्य मरणशील हैं, जैसे—राम, श्याम, मोहन, सोहन, रहीम आदि उदाहरण।

(4) राम भी एक मनुष्य है—उपनय।

(5) राम मरणशील है—निगमन।

गौतम का कहना है कि “साध्य निर्देशः प्रतिज्ञा” अर्थात् साध्य का निर्देश करना ही प्रतिज्ञा है।

पक्ष में साध्य को सिद्ध करने वाला साधन ही हेतु कहलाता है। यानी जिस युक्ति के द्वारा प्रतिज्ञा को सिद्ध किया जाता है, उसे ही हेतु कहा जाता है।

व्याप्ति स्थापित करने वाला दृष्टान्त ही उदाहरण है और दृष्टान्त सहित हेतु एवं साध्य का व्यापक सम्बन्ध दिखलाकर उसे पक्ष में प्रयुक्त करना ही उपनय है।

जब प्रतिज्ञा सिद्ध हो जाती है तो उसे ही निगमन कहा जाता है। कुछ आलोचकों का कहना है कि प्रतिज्ञा और निगमन तथा हेतु और उपनय में कोई अन्तर नहीं है। नैयायिक इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि प्रतिज्ञा और हेतु एक नहीं कहे जा सकते हैं। सिद्ध की जाने वाली वस्तु का कथनमात्र ही प्रतिज्ञा है और उस वस्तु के वास्तव में सिद्ध हो जाने पर निगमन करते हैं। इसी तरह हेतु और उपनय में स्पष्ट अन्तर है। प्रतिज्ञा को सिद्ध करने वाला साधन ही हेतु है, किन्तु दृष्टान्त द्वारा हेतु और साध्य के बीच सामान्य सम्बन्ध दिखलाते हुए उसे पक्ष पर विशेष रूप से लागू करना ही उपनय कहलाता है। अतः जहाँ पाश्चात्य न्याय मात्र निगमनात्मक होता है, वहाँ पंचावयव न्याय को निगमनात्मक—आगमनात्मक कहा जाता है। इसमें वास्तविक सफलता की प्राप्ति का प्रयास किया जाता है जबकि पाश्चात्य न्याय में आकारिक सत्यता की प्रधानता रहती है और कभी—कभी वही लक्ष्य रहता है।

राधाकृष्णन् के शब्दों में—“हेतु के पक्ष में विद्यमान होने मात्र से ही जिसे पक्षधर्मता कहते हैं, अनुमान तब तक प्रामाणिक नहीं हो सकता, जब तक कि एक व्यापक सम्बन्ध हेतु और साध्य के बीच में स्थापित न हो। उदाहरण—‘जहां—जहां धुआं है, वहां—वहां आग रहती है। जैसे रसोईघर में, हमें अनुमान के आधार पर, साध्यपद की ओर ले जाता है। गौतम के अनुसार—उदाहरण से तात्पर्य एक ऐसे समान दृष्टान्त से है, जहां साध्य का आवश्यक गुण विद्यमान हो। वात्स्यायन का भी यही मत प्रतीत होता है।<sup>44</sup>”

प्राचीन न्याय या गौतम के अनुसार—अनुमान के तीन प्रकार हैं—(1) पूर्ववत् (2) शेषवत् और (3) सामान्यतोदृष्टानुमान। यह व्याप्ति के प्रकार—भेद के अनुसार हुआ है।

(क) पूर्ववत् अनुमान—इस अनुमान में पूर्ववर्ती के आधार पर अनुवर्ती का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। यानी ज्ञात कारण से अज्ञात कार्य का अनुमान करना

ही पूर्ववत् अनुमान कहलाता है। अब प्रश्न है कि कारण और कार्य क्या है? कार्य के अव्यवहित नियत पूर्ववर्ती घटना को कारण कहते हैं और कारण के नित्य अव्यवहित परवर्ती घटना को कार्य कहा जाता है। अतः स्पष्ट है कि पूर्ववत् अनुमान में भविष्यत् कार्य का अनुमान वर्तमान कारण से होता है। जैसे होने वाली वर्षा का अनुमान वर्तमान समय के मेघों को देखकर करना पूर्ववत् अनुमान का उदाहरण है। इसी तरह आकाश में काले बादल देखकर वर्षा के आधार पर अच्छी फसल का अनुमान करना इसी अनुमान का उदाहरण है।

राधाकृष्णन् के अनुसार—जब हम बादलों को देखते हैं और उनसे वर्षा का अनुमान करते हैं तो यह 'पूर्ववत्' अनुमान है, जिसमें हम पूर्ववत् को देखकर परिणाम रूपी परवर्ती वस्तु के अस्तित्व का अनुमान करते हैं। परन्तु इस अवस्था में अनुमान केवल कारण ही को देखकर नहीं किया गया, बल्कि पूर्व अनुभव के आधार पर भी किया गया है। जब हम नदी में आई हुई बाढ़ को देखते हैं और अनुमान करते हैं कि वर्षा हुई होगी, तो यह शेषवत् अनुमान है, क्योंकि इसमें परवर्ती परिणाम को देखकर उसके पूर्ववर्ती कारण का अनुमान करते हैं।<sup>45</sup>

(ख) शेषवत् अनुमान—इसमें वर्तमान कार्य से विगत कारण का अनुमान किया जाता है। यानी यहाँ अनुवर्ती के आधार पर पूर्ववर्ती का अनुमान लगाया जाता है। उदाहरण के लिए सभी जगहों में पानी की भरमार देखकर बाढ़ होने का अनुमान या कहीं मलेरिया बुखार का प्रकोप देखकर वहाँ अनोफिल मच्छरों की भरमार का अनुमान करना इसी अनुमान का उदाहरण है। पूर्ववत् एवं शेषवत् अनुमान कार्य कारण के नियत सम्बन्ध के द्वारा होते हैं। यानी दोनों अनुमान कार्य—कारण सम्बन्ध पर निर्भर हैं। यहाँ वस्तुओं के क्रमिक निराकरण विधि के द्वारा शेष का अनुमान किया जाता है। यानी अगर विकल्पों को छंट-छंटकर अन्त में शेष बचने वाले विकल्प के आधार पर कोई अनुमान निकाला जाता है तो शेषवत् अनुमान कहलाता है। इस शब्द का शाब्दिक अर्थ है—शेष के समान।

(ग) सामान्यतोदृष्ट अनुमान—इसे सामान्यतोदृष्ट भी कहा जाता है क्योंकि यहाँ साध्य अथवा लिंगी सामान्यतः अदृष्ट (अप्रत्यक्ष) रहता है। कई ऐसे पदार्थ हैं, जिनका प्रत्यक्ष नहीं होता है। इस स्थिति में इनके कुछ लक्षणों या चिह्नों के आधार पर इनके अस्तित्व का अनुमान किया जाता है। पूर्ववत् एवं शेषवत् अनुमान जहाँ कार्य—कारण के नियत सम्बन्ध के द्वारा होते हैं, वहीं यह अनुमान (सामान्यतो दृष्ट) कार्य—कारण के द्वारा नहीं होता है। जैसे समय—समय पर देखने से मालूम पड़ता है कि चन्द्रमा आकाश के भिन्न—भिन्न स्थानों पर रहता है। इससे उसकी गति को प्रत्यक्ष नहीं भी देखकर हम इस निश्चय पर पहुंचते हैं कि चन्द्रमा गतिशील है। इस अनुमान का आधार यह है कि अन्यान्य वस्तुओं के स्थान परिवर्तन के साथ—साथ उनकी गति का भी प्रत्यक्ष होता है। इसलिए हम यह अनुमान करते हैं कि चन्द्रमा के स्थानान्तरित होने के कारण उसमें भी गति होगी। यद्यपि चन्द्रमा की गति को हम प्रत्यक्ष नहीं देखते। इसी तरह आत्मा का प्रत्यक्षीकरण नहीं होता है। किन्तु इसके कई लक्षणों या गुणों (जैसे

सुख-दुःख, इच्छा इत्यादि) का प्रत्यक्ष हमें होता है। यह सामान्य नियम है कि गुण या चिह्न किसी आश्रय में ही रह सकते हैं। इस प्रकार हम अनुमान करते हैं कि इन गुणों के आधार के रूप में कोई सत्ता अवश्य है। यह सत्ता निश्चय ही 'आत्मा' है।

इस तरह हम देखते हैं कि यह अनुमान कार्य-कारण-सम्बन्ध के द्वारा नहीं होता है बल्कि सामान्य सादृश्य के अनुभवों के द्वारा ही संभव होता है। अतः यह अनुमान उपमान से मिलता-जुलता है।

नव्य-न्याय के एक तीसरे प्रकार के भेद के अनुसार अनुमान तीन तरह के होते हैं—(1) केवलान्वयी, (2) केवल व्यतिरेकी एवं (3) अन्वयव्यतिरेकी। अनुमान के ये तीनों रूप व्याप्ति की विधि पर आधारित हैं।

दत्त एवं चटोपाध्याय के शब्दों में यह प्रकार-भेद बहुत युक्तिपूर्ण है, क्योंकि यह व्याप्ति-स्थापन प्रणाली के प्रकार-भेद पर अवलम्बित है।<sup>46</sup>

यहां नव्य नैयायिकों की व्याख्या कुछ और ही है। उनका कहना है कि "पूर्ववत्" का अर्थ है—"केवलान्वयी", शेषवत् का अर्थ है—"केवलव्यतिरेकी" और "सामान्यतोदृष्टः" का अर्थ है—"अन्वयव्यतिरेकी"।<sup>47</sup>

अब प्रश्न उठता है कि व्याप्ति क्या है? दो वस्तुओं के बीच नियत अनौपाधिक एवं सामान्य सम्बन्ध को व्याप्ति कहा जाता है।

(1) केवलान्वयी—जब मात्र भावात्मक उदाहरणों के आधार पर स्थापित व्याप्ति को अनुमान का आधार बनाया जाता है, तब उसे केवलान्वयी अनुमान कहते हैं। दूसरे शब्दों में केवलान्वयी अनुमान उसे कहते हैं, जिसके साधन तथा साध्य में नियत साहचर्य देखा जाता है। अर्थात् जिसकी व्याप्ति केवल अन्वय के द्वारा स्थापित होती है और जिसमें व्यतिरेक का सर्वथा अभाव होता है।<sup>48</sup>

यानी यहाँ निषेधात्मक उदाहरण नहीं लिये जाते हैं। जैसे—

(क) यह नौकर रखने योग्य है—प्रतिज्ञा।

(ख) क्योंकि यह नौकर ईमानदार है—हेतु

(ग) और जो ईमानदार होता है, उसे नौकर रखा जा सकता है, जैसे—मोहन, सोहन, चंदू, रहीम आदि उदाहरण।

(घ) यह नौकर ईमानदार है—उपनय।

(ङ) यह नौकर रखने योग्य है—निगमन।

उपर्युक्त अनुमान में सभी उदाहरण भावात्मक हैं। यहाँ कोई भी उदाहरण निषेधात्मक नहीं है। यह अनुमान जे.एस. मिल के द्वारा प्रस्तुत अन्वय विधि से मिलता-जुलता है।

(2) केवल व्यतिरेकी—यह वह अनुमान है, जिसमें साध्य के अभाव के साथ-साथ साधन के अभाव की व्याप्ति के ज्ञान से अनुमान होता है। साधन और साध्य की अन्वयमूलक व्याप्ति से नहीं यानी निषेधात्मक उदाहरणों के द्वारा स्थापित व्याप्ति पर आधारित अनुमान ही केवल-व्यतिरेकी अनुमान कहा जाता है।

उदाहरण के लिए—(क) यह हिमालय पहाड़ है—प्रतिज्ञा।

(ख) क्योंकि यह सबसे ऊँचा पहाड़ है—हेतु।

(ग) एवं जो हिमालय नहीं है, वह सबसे ऊँचा नहीं है, जैसे आल्प्स, भारत में हिमालय आदि—उदाहरण।

(घ) यह पहाड़ सबसे ऊँचा है—उपनय।

(ङ) यह हिमालय पहाड़ है—निगमन।।

यह अनुमान मिल की व्यतिरेक—विधि से मिलता—जुलता है।

(3) अन्वय—व्यतिरेकी—यह वह अनुमान है, जिसमें साधन एवं साध्य का सम्बन्ध अन्वय और व्यतिरेक दोनों के ही द्वारा स्थापित होता है। इस अनुमान में व्याप्ति सम्बन्ध निम्नलिखित ढंग से स्थापित होता है—साधन के उपस्थित रहने पर साध्य भी उपस्थित रहता है। साध्य के अनुपस्थित रहने पर साधन भी अनुपस्थित रहता है। इस प्रकार व्याप्ति का ज्ञान अन्वय एवं व्यतिरेक की सम्मिलित प्रणाली पर निर्भर करता है।

भावात्मक उदाहरण—सभी धुआंयुक्त स्थान अग्नियुक्त हैं।

पहाड़ धुआँ युक्त है।

पहाड़ अग्नि युक्त है।

निर्षधात्मक उदाहरण—सभी आग रहित स्थान धूम रहित हैं। पर्वत धूमयुक्त है। पर्वत आग युक्त है।

यह अनुमान मिल की संयुक्त विधि (The Joint method of agreement and difference) से मिलता—जुलता है। अतः यह कहना उचित ही है कि Student of Indian Logic will do well to remember that *vîtsyîyana* is the earliest known writer who draw pointed attention to the reason why Gautam's *Nyîya* came to be regarded as the science of epistemology and Logic (*pramî÷a °îstra, anvik᳚ik/ or nyîya °îstra*).<sup>49</sup>

व्याप्ति सम्बन्ध पर भारतीय दार्शनिकों में विशेषकर चार्वाक और पाश्चात्य दार्शनिकों में डेविड ह्यूम ने आपत्ति प्रकट की है। इनका कहना है कि अगर सिर्फ अतीत एवं वर्तमान अनुभव को स्वीकार किया जाए तो हम कह सकते हैं कि धुएँ अथवा आग की व्याप्ति में कोई व्यतिक्रम नहीं पाया गया है, किन्तु इसका क्या प्रमाण है कि यह सम्बन्ध ग्रह, नक्षत्रों जैसे सुदूर स्थानों के लिए और भविष्य के लिए भी लागू होगा? इस संशय को दूर करने के लिए नैयायिकों ने बतलाया है कि “सभी धूमवान् पदार्थ बहिनमान हैं।” यह व्याप्ति तर्क द्वारा इस प्रकार प्रमाणित हो सकता है। अगर यह वाक्य सत्य नहीं है तो इसका विरोधी वाक्य “कुछ धूमवान् पदार्थ बहिनमान् नहीं हैं” अवश्य सत्य होगा। तो फिर व्याप्ति सम्बन्ध का खण्डन कैसे होगा? यह व्याप्य और व्यापक का सम्बन्ध है। यह दो प्रकार का होता है—समव्याप्ति एवं असमव्याप्ति। जब समान विस्तार वाले दो पद में व्याप्ति का सम्बन्ध रहता है तो उसे समव्याप्ति कहा जाता है। इसके पदों की व्यापकता बराबर होने के कारण एक—दूसरे का और दूसरे से पहले का

अनुमान किया जा सकता है, जैसे—अभिधेय और प्रमेय। जो अभिधेय है, वह प्रमेय है और जो प्रमेय है, वह अभिधेय है। बौद्ध एवं वेदान्त ने कार्य—कारण का तात्म्य सम्बन्ध को स्वीकार किया है। नैयायिकों के अनुसार उपाधि का साध्य समव्याप्ति तथा अव्याप्त साधन होना चाहिए। जैसे—धुएँ से अग्नि का अनुमान नहीं करके कोई अग्नि से धुएँ का अनुमान करे तो यह अनुमान उपधि दुष्ट व्याप्ति पर निर्भर होने के कारण भ्रमात्मक हो जाएगा, क्योंकि यहां धूम साध्य है और अग्नि साधन है, और आग में तभी धुआं हो सकता है, जब आग की उत्पत्ति भीगे ईंधन से हुई हो।

अतः नियत और अनौपाधिक सम्बन्ध को ही व्याप्ति सम्बन्ध कहा जाता है।



---

---

अध्याय-5  
उपमान प्रमाण

---

---

न्यायशास्त्र में तीसरा प्रमाण उपमान ही है। गौतम के अनुसार ज्ञात वस्तु की समानता के आधार पर अज्ञात वस्तु की वस्तुवाचकता का ज्ञान जिस प्रमाण के द्वारा हो उसे उपमान कहा जाता है। उपमान दो शब्दों के मेल से बना है—उप+मान्। उप का अर्थ सादृश्य या समानता है और मान का अर्थ ज्ञान होता है। अतः उपमान से सादृश्य ज्ञान का बोध होता है। एस.सी. चटर्जी के शब्दों में—“The word *upâmana* is derived from the words *upa* meaning *°îdza °ya* or similarity and *mîna* meaning cognition. Hence *upamâna* derivatively means the Knowledge of the similarity between two things.” यानी इसके द्वारा संज्ञा—संज्ञि—सम्बन्ध का ज्ञान होता है। दूसरे शब्दों में इसके द्वारा किसी नाम और उसके नामी के सम्बन्ध का ज्ञान होता है और उपमान के द्वारा प्राप्त ज्ञान उपमिति या उपमानजन्य ज्ञान कहलाता है। तर्कसंग्रह के अनुसार संज्ञा—संज्ञि सम्बन्ध का ज्ञान ही उपमिति है। अब स्पष्ट है कि उपमान ज्ञान प्राप्ति का वह साधन है, जिसके द्वारा किसी पद की वस्तुवाचकता का ज्ञान हो। उदाहरण के लिए मान लें कि किसी व्यक्ति ने भेड़िया नहीं देखा है परन्तु वह कुत्ते के बारे में पूर्ण परिचित है। कोई आप्त पुरुष उसे बतलाता है कि भेड़िया कुत्ते की भाँति एक जानवर है और दोनों में काफी समानता है। वह व्यक्ति एक दिन कहीं भेड़िया देखकर उसे बड़े कुत्ते के सदृश्य पाकर उसे भेड़िये के रूप में पहचान लेता है। भेड़िये का ज्ञान उपमिति है और जिस साधन से यह ज्ञान मिलता है, उसे उपमान कहते हैं। इसी तरह कोई विश्वसनीय व्यक्ति आपके सामने किसी ऐसी वस्तु का वर्णन करे, जिसे आपने कभी न देखा हो और पीछे उस वस्तु को देखकर आप कहें कि यह वस्तु वही है, जिसका वर्णन आपके सामने किया गया था, तो यह ज्ञान उपमान के द्वारा प्राप्त होगा।

राधाकृष्णन् के अनुसार उपमान अथवा तुलना वह साधन है, जिससे हम किसी पूर्णतया ज्ञात पदार्थ के सादृश्य से किसी अन्य पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करते हैं। यह सुनकर कि जंगली बैल या नील गाय (गवय) गाय के समान होता है, यह अनुमान करते हैं कि पशु जो गाय के सदृश दिखाई देता है, गवय है।<sup>50</sup>

उपमान के तर्क में दो अवयव रहते हैं—(1) ज्ञेय पदार्थ का ज्ञान, (2) सादृश्य का प्रत्यक्ष ज्ञान। जहाँ प्राचीन नैयायिक पहले को नय ज्ञान का मूल कारण मानते थे, वहीं अर्वाचीन नैयायिक सादृश्य ज्ञान को अधिक महत्त्व देते हैं।<sup>51</sup>

उपमान—प्रमाण के लिए यह आवश्यक है कि हमें किसी परिचित वस्तु के साथ ज्ञातव्य वस्तु के सादृश्यों का ज्ञान प्राप्त हो और आगे चलकर उन सादृश्यों का प्रत्यक्षीकरण हो। जब हम गवय में गौ के सादृश्य को देखते हैं और पहले सुनी हुई इस बात का स्मरण करते हैं कि गवय या नील—गाय गाय के आकार—प्रकार की होती है और गाय से मिलती—जुलती होती है। यानी गवय गौ के सदृश्य ही है, तभी हम जानते हैं कि इसका नाम गवय है।

प्रत्यक्ष और अनुमिति के समान उपमिति भी एक स्वतंत्र प्रमिति है। इसकी प्रक्रिया वह है, जैसे किसी ने किसी से कहा कि “विषहरणी बूटी के पौधे मूंग के पौधे के समान हैं। कभी उस श्रोता को दवाई के लिए विषहरणी बूटी की जरूरत हुई तो जंगल में जाकर ढूंढने लगा। निश्चय किया कि “यह विषहरणी है” यही निश्चय उपमिति ज्ञान कहलाता है।<sup>52</sup>

“उपमितिकरणं उपमानम्। संज्ञासंज्ञि सम्बन्धज्ञानमुपमितिः, तत्करणं सादृश्यज्ञानम्। तथाहि कश्चित् गवयपदार्थमजननकुतश्चित्तं आरण्यक पुरुषात् गोसदृशः गवयः इति श्रुत्वा वनं गतः। वाक्यार्थं स्मरन् गोसदृशं पिण्डं पश्यति। ‘तदनन्तरम् असौ गवयपद वाच्यः’ इव्युपमितिः उत्पद्यते।”<sup>53</sup>

अब प्रश्न उठता है कि क्या सभी प्रकार के सादृश्य उपमिति के आधार कहे जा सकते हैं? उत्तर होगा नहीं। वही सादृश्य उपमिति का प्रामाणिक आधार कहला सकता है, जिसमें जाति या सामान्य की एकता अथवा समरूपता पाई जाय। अतः सादृश्य के लिए दो वस्तुओं में सम्बन्ध सजातीय होना चाहिए न कि विजातीय। कौआ और हाथी में विजातीय सम्बन्ध है चूंकि इनमें पहला पक्षी है और दूसरा जानवर है। कुत्ता और भेड़िया अथवा गवय और गाय दोनों के दोनों जानवर जाति के हैं यानी दोनों में सजातीय सम्बन्ध है।

उपमिति का विश्लेषण करने पर उसके अन्तर्गत चार तत्त्व उभर कर आते हैं। वे हैं—

(क) किसी विश्वसनीय व्यक्ति का कथन कि अमुक अज्ञात वस्तु अथवा व्यक्ति ज्ञात वस्तु, जीव अथवा व्यक्ति के समान होता है, जैसे—भेड़िया बड़े कुत्ते की तरह होता है अथवा गवय गाय की तरह होता है।

(ख) सादृश्यधी—किसी जीव या वस्तु को देखकर पूर्व ज्ञान जानवर या वस्तु से उसकी समानता का अनुभव करना।

(ग) वाक्यार्थ स्मृति—सादृश्य अनुभव करने पर विश्वसनीय व्यक्ति का कथन याद पड़ना।

(घ) उपमिति—उस नई वस्तु का ज्ञान हो जाना। ज्ञान चार तत्त्वों में ‘सादृश्यधी’ अर्थात् सादृश्य—ज्ञान ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए सादृश्य—ज्ञान ही उपमिति का सबसे अधिक समीपवर्ती साधन माना गया है।

प्राचीन नैयायिकों ने सादृश्य को ही उपमिति का आधार मान लिया है किन्तु बाद के नैयायिकों ने समानता के साथ—साथ विषमता और विचित्रता को भी उपमिति का आधार स्वीकार कर लिया है। इसीलिए उपमान तीन प्रकार के हो जाते हैं—(क) साधर्म्योपमान, (ख) वैधर्म्योपमान एवं (ग) धर्ममात्रोपमान।

(क) साधर्म्योपमान उसे कहते हैं, जो सादृश्य निश्चय मूलक होती है। दूसरे शब्दों में यदि किसी ज्ञात वस्तु के सादृश्य के आधार पर किसी दूसरी वस्तु की वस्तुवाचकता का ज्ञान प्राप्त किया जाये तो यह साधर्म्योपमान कहलाता है। उदाहरण—बड़े कुत्ते के सादृश्य के आधार पर भेड़िया पद की वस्तुवाचकता का ज्ञान प्राप्त करना ही साधर्म्योपमान है।

(ख) जब किसी पूर्व परिचित वस्तु की असमानता (असादृश्य) के आधार पर किसी वस्तु की वस्तुवाचकता का ज्ञान प्राप्त हो तो उसे वैधर्म्योपमान कहते हैं। यानी वैधर्म्योपमान अथवा वैधर्म्योपमिति इस प्रकार होती है, जैसे ऊँट से अपरिचित किसी मनुष्य के किसी ऊँट जानने वाले ने कहा कि “क्या तुम ऊँट को नहीं पहचानते?” उसकी आकृति अन्य पशुओं से अतिविलक्षण होती है। उसके ओठ लम्बे होते हैं, गर्दन खूब लम्बी होती है। वह काँटे बड़े ही प्रेम से खाता है। नीम को भी चबाकर खूब स्वाद लेता है। अनन्तर श्रोता मारबार जाकर ऊँट को पूर्वउपदेश के अनुसार अन्य पशुओं से विलक्षण देखता है, तो यह निश्चय करता है “यही पशु ऊँट है” यह वैधर्म्योपमिति का उदाहरण है।<sup>54</sup>

इसी प्रकार मान लिया जाय कि किसी व्यक्ति ने हाथी नहीं देखा, किन्तु वह भैंस से पूर्ण परिचित है। उसे किसी विश्वसनीय व्यक्ति से यह ज्ञात होता है कि हाथी भैंस से बड़ा होता है। उसके पैर केले के थंभ के समान मोटे हैं। उसके कान सूप की भाँति हैं और उसके सूँड भी हैं, किन्तु यह रूप-रंग में भैंसे के सदृश है। अब यदि वह व्यक्ति कहीं हाथी देखकर भैंसे की असमानता के आधार पर उसकी वस्तुवाचकता का ज्ञान प्राप्त कर लेता है तो यही ‘वैधर्म्योपमान’ कहलाता है।

(ग) यदि किसी वस्तु की वस्तुवाचकता का ज्ञान मात्र उस वस्तु की विचित्रताओं, विलक्षणताओं एवं अन्य विशेषताओं के आधार पर हो तो उसे धर्ममात्रोपमान कहा जाता है। उदाहरण के लिए मान लिया जाए कि किसी व्यक्ति ने गैंडा कभी नहीं देखा है। एक विश्वसनीय व्यक्ति से उसे पता चलता है कि गैंडा एक विचित्र जानवर है, जिसका रंग काला, पीठ आदि जगहों में काफी गद्दे के सदृश्य मोटे चमड़े होते हैं। मुँह कुछ लम्बा और विचित्र सा लगता है। भाला आदि अस्त्रों से मारने पर उसका चमड़ा पुनः जुट जाता है। अब अगर कोई व्यक्ति कहीं गैंडा देखता है और उसकी विलक्षणताओं के आधार पर उसकी वस्तुवाचकता का ज्ञान प्राप्त कर लेता है तो यही धर्ममात्रोपमान है।

उपमिति में सादृश्य, असादृश्य, एवं विलक्षणताओं के कारण ही आजकल उपमान की परिभाषा में सादृश्यज्ञान पर उतना जोर नहीं दिया जाता है। आजकल उपनाम की परिभाषा अधिक लोकप्रिय है—“जिसके द्वारा संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्ध का ज्ञान हो उसे ही उपमान कहते हैं।”<sup>55</sup>

उपमान और सादृश्यानुमान कुछ लोग उपमान को सादृश्यानुमान कह देते हैं। यह बात ठीक है कि दोनों में ही सादृश्य-ज्ञान का अत्यधिक महत्त्व है। फिर भी दोनों को एक समझना भूल है। दोनों में निम्नलिखित अन्तर है—

(क) सादृश्यानुमान का आधार मात्र सादृश्य अथवा समानता है। परन्तु उपमान में जैसा कि पहले संकेत दिया जा चुका है कि सादृश्य के साथ-साथ विलक्षणता एवं विषमता पर भी किसी पद की वस्तुवाचकता का ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

(ख) सादृश्यानुमान में कुछ समानताओं के आधार पर एक नई समानता का अनुमान किया जाता है। परन्तु उपमान में समानताओं के आधार पर उस अज्ञात वस्तु की वस्तुवाचकता का ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

(ग) सादृश्यानुमान में वस्तु के किसी विशेष भाग या विशेष गुण का ही ज्ञान हो जाता है। किन्तु उपमान में किसी वस्तु के सम्पूर्ण रूप का ज्ञान प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए सादृश्यानुमान द्वारा मंगल ग्रह में केवल मनुष्य के होने की संभावना का पता चलता है परन्तु उपमान के द्वारा भेड़िया के सम्पूर्ण रूप का ज्ञान होता है।

अतः दोनों में अर्थ, क्षेत्र और लक्ष्य को लेकर अन्तर दृष्टिगत होता है। इसलिए दोनों को एक मानना उचित नहीं है।

वात्स्यायन ने उपमान को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। इनकी दृष्टि में निम्नलिखित फायदे हैं—

(क) विज्ञान के क्षेत्र में भी उपमान के आधार पर कई अज्ञात पदार्थों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

(ख) उपमान व्यावहारिक जीवन में उपयोगी है। इसके द्वारा पता चलता है कि किसी संज्ञा से किन वस्तुओं या व्यक्तियों का बोध होता है। यह हमें पारिभाषिक नामों की वस्तुवाचकता का ज्ञान दिलाने में भी मदद पहुँचाता है।

(ग) दवाओं की खोज अथवा आविष्कार में भी यह सहायक सिद्ध हुआ है। आयुर्वेदशास्त्र में अनेकानेक दवाओं की खोज एवं आविष्कार उपमान के द्वारा किये गये हैं।

प्रत्यक्ष और अनुमान की तरह ही उपमान भी एक स्वतंत्र प्रमाण है। अनुमान की तरह यह भी व्यक्ति के विवेक एवं अनुभव पर निर्भर करता है। जो व्यक्ति अनुभवी नहीं है अथवा कम विवेकी है, उसका उपमान सम्बन्धी ज्ञान असंदिग्ध नहीं होगा किन्तु यदि वह विवेकशील और अनुभवी है तो उसका उपमान सम्बन्धी ज्ञान विश्वसनीय एवं असंदिग्ध हो सकता है।

मीमांसा में उपमान सादृश्य से सादृश्य का ज्ञान है। जब कोई व्यक्ति, जो गाय से परिचित है, अकस्मात् गवय को सामने देखता है और गवय को गाय के सदृश्य पाता है, तब वह यह भी जान लेता है कि गाय गवय के सदृश्य है। यह दूसरा सादृश्य अथवा अधिक सही यह कहना होगा कि स्मृत गाय का इस दूसरे सादृश्य से विशिष्ट होना ही उपमान का प्रमेय है। यहां एम. हिरियन्ना ने ठीक ही लिखा है कि, “यहां तत्त्वमीमांसीय महत्त्व की बात यह है कि अ से ब के सादृश्य को ब से अ के सादृश्य से भिन्न माना गया है।”<sup>56</sup>

---

---

अध्याय-6  
शब्द प्रमाण

---

---

आप्तवाक्यं शब्दः। आप्तस्तु यथार्थ वक्ता। वाक्यं पद समूहः यथा गामानय इति। शक्तं पदम्। अस्मात् पदात् अयमर्थः बोद्धव्यः इति ईश्वरसङ्केत शक्तिः।

- (a) आकांक्षा योग्यता सन्निधिश्च वाक्यार्थ ज्ञाने हेतुः।
- (b) पदस्य पदान्तर व्यतिरेक प्रयुक्तान्वयाननुभावकव्यमाकांक्षा।
- (c) अर्थाबाधो योग्यता।
- (d) पदानाम् अविलम्बेन उच्चारणं सन्निधिः।<sup>57</sup>

ज्ञान के मुख्य स्रोतों में 'आप्त प्रमाण' आता है। हम ऐसी अनेक वस्तुओं के अस्तित्व को, जिन्हें हमने स्वयं नहीं देखा, न जिनके विषय में विचार ही किया, अन्य पुरुषों के प्रामाणिक कथन के आधार पर स्वीकार कर लेते हैं।<sup>58</sup>

शब्द प्रमाण न्यायशास्त्र में स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है। इसे चौथा प्रमाण भी कहा जाता है। शब्द द्वारा प्राप्त ज्ञान शब्द या शब्द ज्ञान कहलाता है। "शब्दों एवं वाक्यों से जो वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त होता है, उसे शब्द कहते हैं।"<sup>59</sup> शब्दों के माध्यम से ज्ञान की अभिव्यक्ति बोलकर अथवा लिखकर की जाती है। किन्तु सभी प्रकार के शाब्दिक ज्ञान यथार्थ नहीं कहे जाते हैं। इनमें से अधिकांश अयथार्थ होते हैं। मात्र विश्वसनीय व्यक्ति अथवा आप्त पुरुष के कथन को प्रामाणिक माना जाता है। स्वयं महर्षि गौतम ने भी बतलाया है—आप्तोपदेशः शब्दः। तर्कसंग्रह में भी बतलाया गया है—आप्त वाक्यं शब्दः। यानी आप्त अथवा विश्वसनीय व्यक्ति का कथन अथवा वाक्य होता है—शब्द प्रमाण। कप्पू स्वामी शास्त्री के शब्दों में "Valid verbat testimony is a proposition set forth by a trust worthy person."<sup>60</sup> दूसरे शब्दों में आप्त पुरुष के कथन को शब्द प्रमाण कहा जाता है। अब प्रश्न उठता है कि आप्त पुरुष कौन है? आप्त पुरुष वह है, जो स्वयं किसी वस्तु का साक्षात्कार करके उसका ज्ञान प्राप्त करता है एवं लोकहित अथवा लोककल्याण के लिए उस यथार्थ ज्ञान को अन्य लोगों के सम्मुख प्रस्तुत करता है। तर्कसंग्रह में भी बतलाया गया है—आप्तस्तु यथार्थवक्ता। One who habitually speaks only truth is a trust worthy person.<sup>61</sup> यानी यथार्थ भाषी ही आप्त पुरुष कहलाते हैं। आप्त उस ज्ञान को कहा जाता है, जिसे व्यक्ति स्वयं अपने अनुभव से प्राप्त करता है। के.पी. बहादुर ने ठीक ही लिखा है—Verbal testimony is the percept of reliable person. A reliable person is one, who has got infinite knowledge of the subject on which the testimony is to be given.

अब प्रश्न है कि वाक्य क्या है? पदों का समुदाय ही वाक्य कहलाता है। अन्नभट्ट के शब्दों में "वाक्यं पद समूहः"। A sentence or proposition is a group of words like "bring a cow."<sup>62</sup>

उदाहरण के लिए सफेद गाय को डंडे से हांक लाओ आदि। अब स्पष्ट है कि वेद, उपनिषद्, पुराण, धर्मशास्त्र इत्यादि में ऋषि-मुनियों के द्वारा दिये गये उपदेश शब्द प्रमाण कहलाते हैं।

अब प्रश्न है कि शब्द प्रमाण को उपमान के बाद क्यों रखा जाता है? या इसका निरूपण उपमान के निरूपण के अनन्तर क्यों किया जाता है? उपमान निरूपण के पश्चात् शब्द प्रमाण का निरूपण इसलिए प्रारम्भ किया जाता रहा है कि इन दोनों के बीच कार्यकारण भाव संगति है। यद्यपि यह बात सही है कि कार्य-कारण-भाव संगति उपमिति और शाब्दबोधात्मक फलों के बीच है अर्थात् प्रमितियों के बीच है न कि उनके प्रतिप्रमाणभूत उपमान एवं शब्दों के बीच। तथापि फलगत कार्यकारण भाव का उपचार अर्थात् गौणरूप से स्वीकार प्रमाण-भूत उपमान तथा शब्दों के बीच भी माना जा सकता है और उसके आधार पर अनुमान और शब्द के बीच कार्यकारण भाव संगति कही जा सकती है। जो नव्य नैयायिकों ने शाब्द बोध के प्रति शब्द को प्रमाण न मानकर शब्द-ज्ञान को प्रमाण माना है। उनके मत में तो प्रमाणगत भी कार्यकारण भाव स्वतः सम्पन्न हो जाता है। उक्त प्रकार उपचार की आवश्यकता नहीं रह जाती है क्योंकि गवयोगवयपदवाच्यः अर्थात् एतज्जातीय पशु गवय कहलाते हैं। इस प्रकार होने वाला उपमिति ज्ञान भी पद विषयक होने के कारण पद-ज्ञान कहलाने का अधिकारी होता है, जिसके प्रति सादृश्य ज्ञानात्मक उपमान कारण होता ही है। पद-ज्ञान में अनायास उपमान् जन्यत्व प्राप्त होने के कारण उपमान् और पदज्ञान इन दोनों के बीच अनायास कार्यकारण-भाव संगति उपस्थिति हो जाती है। यथार्थ वक्ता तो कोई अज्ञ या रट्टू प्राणी भी हो सकता है परन्तु उसे आप्त नहीं कहा जा सकता है। अतः 'आप्तत्व' की व्याख्या 'स्व-प्रयुक्त-वाक्यार्थ-यथार्थ-ज्ञानवत्' ज्ञातव्य है। यानी वस्तुस्थिति के अनुरूप ज्ञानयुक्त होते हुए तदनुरूप वाक्य प्रयोक्ता व्यक्ति यथार्थ वक्ता होता है और वही आप्त कहलाने का अधिकारी होता है। फलतः उक्त प्रकार आप्त का वाक्य शब्द प्रमाण कहलाता है।

जहाँ तक शाब्दिक ज्ञान की उत्पत्ति का प्रश्न है। उस ज्ञान की उत्पत्ति विश्वसनीय व्यक्ति के वाक्य के वास्तविक अर्थ जानने व समझने पर निर्भर करता है एवं इसकी प्रमाणिकता वक्ता के विश्वसनीय होने पर आधारित है। अतः आप्त पुरुषों के कथन का सही अर्थ समझना भी आवश्यक है। इनके कथन का वास्तविक अर्थ नहीं समझने पर शाब्दिक ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

यथार्थ शाब्दिक ज्ञान की उत्पत्ति निम्नांकित बातों पर आधारित है—

(1) शाब्दिक कथन आप्तवचन होता है अर्थात् इसे किसी विश्वसनीय व्यक्ति का कथन होना चाहिए।

(2) ये शाब्दिक कथन यथार्थ रूप में लोगों के सामने आप्त पुरुष के द्वारा रखे जाते हैं।

(3) शाब्दिक कथन आप्तपुरुष के निजी अनुभव के आधार पर किसी विषय के साक्षात्कार पर अवलम्बित होते हैं।



(4) आप्तकथन का वास्तविक अर्थ लोगों की समझ में आना जरूरी है।

(5) आप्त कथन को दूसरों के सम्मुख रखने के पीछे लोककल्याण की भावना रहती है।

(6) और अन्त में शाब्दिक ज्ञान यथार्थ रूप में प्राप्त हो जाता है।

शब्दों का वर्गीकरण—शब्द कान का विषय है। ये कान के द्वारा ही सुने जाते हैं। शब्द के दो प्रकार हैं—ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक। ध्वन्यात्मक शब्द उसे कहते हैं जिसमें केवल ध्वनि सुनाई पड़ती है। इसमें अक्षर स्फुटित नहीं होता है। इसमें अर्थ का स्पष्ट ज्ञान नहीं हो पाता, उदाहरण के लिए किसी वाद्ययन्त्र का अस्पष्ट शब्द। वर्णनात्मक शब्द वह है, जिसमें कंठ, तालु आदि के संयोग से स्वर व्यंजनों का उच्चारण होता है। जैसे—किसी व्यक्ति की आवाज। वर्णात्मक शब्द भी दो प्रकार के होते हैं—(क) निरर्थक एवं (ख) सार्थक। निरर्थक शब्द अर्थहीन होता है और इससे कोई निश्चित अर्थ नहीं निकलता है। उदाहरण के लिए उम, बुम, एह आदि। सार्थक शब्दों से कुछ विशेष अर्थ निकलते हैं। उदाहरणार्थ—घोड़ा, बन्दर आदि। शब्दों में अर्थ व्यक्त करने की शक्ति को संकेत कहा जाता है। संकेत भी दो प्रकार के हैं—आजानिक और आधुनिक संकेत। आजानिक संकेत ईश्वर प्रदत्त है।

The *Naiyāyikas* refuse to accept this view and hold that the utmost that could be said about *pada °akti* is that it is the will of God to the effect that a particular word should convey a particular sense. This is on the assumption that speech is not a human product but made by God for the benefit of humanity.<sup>63</sup>

### आजानिक संकेत

यह संकेत ईश्वरप्रदत्त है। सृष्टि के आदि काल में ही ईश्वर ने शब्दों में आजानिक संकेत रख छोड़ा है। इस संकेत को शक्ति के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। मीमांसकों के अनुसार शाब्दबोध का जनक जो पदार्थस्मरण, तदनुकूल जो पद एवं पदार्थ का सम्बन्ध ही शक्ति है। प्रकृत लक्षण के लक्ष्यभूत शक्ति को मीमांसक द्रव्य, गुण आदि की तरह एक स्वतंत्र पदार्थ मानते हैं एवं उसका लक्षण अर्थ स्मृत्यनुकूल संबंधत्व बतलाते हैं। यद्यपि यह मीमांसकाभिमत शक्ति लक्षण न्यायमत सिद्ध शक्ति में भी समन्वित हो जाता है क्योंकि नैयायिक भी पद—शक्ति को पदार्थ का स्मारक संबंध मानते ही हैं, तथापि लक्षणा को भी वृत्त्यन्तर मानने वाले नैयायिकों के मत में मीमांसकमत सिद्ध उक्त लक्षण को शक्ति का लक्षण नहीं माना जा सकता है। नैयायिकों की दृष्टि में ईश्वरेच्छीय (ईश्वर की इच्छा) विशेषता ही शक्ति है। यहाँ एक प्रश्न यह भी उठाया जा सकता है कि भगवान के ज्ञान एवं यज्ञ को शक्ति न मानकर उनकी उक्त प्रकार इच्छा को ही शक्ति क्यों माना जा रहा है? इसके उत्तर में दीपिका के व्याख्याता नीलकंठ ने कहा है कि आधुनिक संकेतात्मक परिभाषा की इच्छारूपता

सर्वानुभवसिद्ध होने के कारण भगवत्संकेत स्वरूप शक्ति को भी उनकी इच्छा ही मानना उचित होगा। किन्तु आनन्द झा का कहना है कि प्रमा, अप्रमा, संशयनिश्चय, प्रत्यक्षानुमिति इत्यादि रूप में मतिज्ञान की विभिन्नता के कारण आधुनिक संकेत को सामान्यतः ज्ञान स्वरूप मानना कठिन होगा। 'घटपदात् कम्बुग्रीवादिमान् बोद्धव्यः' इस संकेत से घट पद से कम्बुग्रीवा आदि युक्त जलाहरण पात्र समझे जाने के कारण संकेत को ही शक्ति मानना उचित है। नैयायिकों को अटूट विश्वास है कि ईश्वर ने आजानिक संकेत को निश्चित रूप से शब्दों में भर दिया है। इस प्रकार के संकेत उत्पन्न करने में मनुष्य का कोई हाथ नहीं है। महर्षि गौतम की तरह ही उदयनाचार्य आदि ने भी आजानिक संकेत को भगवत्संकेत ही सिद्ध किया है। हरिमोहन झा आदि ने भी इसकी विशद विवेचना की है।

आधुनिक संकेत—यह ईश्वर प्रदत्त न होकर मनुष्य प्रदत्त संकेत है। मनुष्य अपनी इच्छा के मुताबिक शब्दों में अर्थ व्यक्त करने की क्षमता मान लेता है। इसे ही आधुनिक संकेत कहा जाता है। उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति अपने पुत्र का नाम राम, श्याम, पटेल आदि रखता है तो कोई अपने कुत्ते को मोती कहता है। ये आधुनिक संकेत के उदाहरण हैं। ये सामयिक होते हैं।

न्यायशास्त्र में शब्द का वर्गीकरण एक अन्य दृष्टि से दो प्रकार से होता है—(1) ज्ञान के विषय के अनुसार एवं (2) ज्ञान के स्रोत के अनुसार। ज्ञान के विषय के अनुसार शब्द के दो भेद हैं—दृष्टार्थ एवं अदृष्टार्थ। ज्ञान के स्रोत या उत्पत्ति के अनुसार भी शब्द के दो भेद हैं—लौकिक एवं वैदिक।

दृष्टार्थ—यह शब्द जिससे ऐसी वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त होता है, जिनका प्रत्यक्ष हो सके, दृष्टार्थ शब्द कहलाता है। दूसरे शब्दों में दृष्टार्थ शब्द उसे कहते हैं, जिससे दृष्ट वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त होता है। यानी यह शब्द इस विश्व के प्रत्यक्ष होने वाले पदार्थों के विषय में ज्ञान देता है। इस प्रकार के शब्द का अर्थ (विषय) इस वर्तमान विश्व में प्रत्यक्ष रूप से दिखलाई पड़ता है। अगर कोई विश्वसनीय व्यक्ति गंगा या कुतुबमीनार अथवा लखनऊ की भूलभुलैया के विषय में कुछ कहता है तो उसके शब्द दृष्टार्थ कहे जायेंगे क्योंकि गंगा, कुतुबमीनार एवं लखनऊ की भूलभुलैया का प्रत्यक्ष इस विश्व में किया जा सकता है।

अदृष्टार्थ—यह वह शब्द है जिससे अदृष्ट वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त होता है। दूसरे शब्दों में अदृष्टार्थ शब्द वह शब्द है, जो हमें इन्द्रियातीत पदार्थों के विषय में ज्ञान देता है। इस प्रकार के शब्दों का अर्थ इस विश्व के परे अर्थात् अलौकिक विषयों से सम्बन्ध रखता है। जिन विषयों के बारे में अदृष्टार्थ शब्द होते हैं उनका इन्द्रियानुभूति अथवा प्रत्यक्षीकरण इस विश्व में संभव नहीं है। फिर भी इनकी सत्यता में हमें कोई संदेह नहीं रहता, चूंकि ये आप्त पुरुष के कथन होते हैं। इन्हीं आप्त पुरुषों के दृष्टार्थ शब्दों की सत्यता प्रत्यक्ष के द्वारा हमें ज्ञात होती है। इसी आधार पर हम इनके अदृष्टार्थ शब्दों को भी यथार्थ और सत्य मानते हैं। उदाहरण के लिए वैज्ञानिकों के अणु, परमाणु इत्यादि के विषय

में कथन अदृष्टार्थ शब्द, इसी प्रकार सन्त, महात्माओं एवं चिन्तकों के आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग, नरक, मोक्ष, पुनर्जन्म आदि के विषय में दिये गये कथन अदृष्टार्थ शब्द कहे जाते हैं। अणु, परमाणु, आत्मा, परमात्मा इत्यादि का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है। फिर भी आप्त वचन होने के कारण इनकी सत्यता में हमारा विश्वास रहता है। इसी विश्वास को आधार बतलाते हुए श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि “सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज। अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।”<sup>64</sup>

लौकिक और वैदिक शब्द—जैसा कि पहले भी बतलाया जा चुका है कि शब्दों का यह वर्गीकरण इनकी उत्पत्ति के आधार पर किया गया है। अब प्रश्न उठता है कि लौकिक और वैदिक शब्द क्या हैं? इस संसार के लोगों के कथन लौकिक शब्द कहे जाते हैं एवं वेदों, अन्य धार्मिक ग्रन्थों एवं ईश्वर के कथन वैदिक शब्द कहे जाते हैं। इसीलिए तर्कसंग्रह में बतलाया गया है—वाक्यं द्विविधम् वैदिकं लौकिकं च। वैदिकं ईश्वरोक्तत्वात् सर्वमेव प्रमाणम्। लौकिकत्वाप्तोक्तं प्रमाणम्। अर्थात् वाक्य दो प्रकार के हैं—वैदिक और लौकिक। ईश्वरोक्त होने के कारण वैदिक वाक्य तो सभी प्रमाण हैं। किन्तु लौकिक वाक्य वे ही प्रमाण होते हैं जो आप्तोक्त होते हैं। वाक्यार्थ ज्ञान ही कहलाता है शब्द ज्ञान और उसके प्रति करण होता है शब्द। यानी लौकिक शब्द सांसारिक लोगों के कथन होने के कारण सत्य और असत्य दोनों हो सकते हैं। केवल आप्त पुरुषों के कथन ही सत्य होते हैं। किन्तु साधारण मनुष्य के कथन संदेहयुक्त होते हैं। ये सत्य भी हो सकते हैं और असत्य भी। उदाहरण के लिए अखबार की कुछ खबरें सत्य और कुछ असत्य होती हैं।

चार्वाक को छोड़कर सभी भारतीय विचारक लौकिक शब्द को प्रमाण नहीं मानते हैं। चूंकि प्रायः ये संदेहात्मक रहते हैं अतः इनके द्वारा प्राप्त ज्ञान प्रमाण की कोटि में नहीं रखा जा सकता है। वेदान्त लौकिक शब्द को प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं करता है।

वैदिक शब्द चूंकि वेदों, अन्य धार्मिक ग्रन्थों एवं ईश्वर के कथन होने के कारण सदैव सत्य माने जाते हैं। वैदिक वाक्य तीन प्रकार के हैं—

(क) आदेश या आज्ञा सूचक वाक्य (विधि वाक्य) जैसे जो स्वर्ग पाने की इच्छा रखे वह अग्निहोत्र अथवा होम करे।

(ख) अर्थवाद—इसके द्वारा कर्मों की स्तुति, निन्दा, प्रकृति एवं पुराकल्प की अभिव्यक्ति होती है। उदाहरण के लिए पापी नरकगामी होता है या अमुक यज्ञ करने से देवों की विजय हुई है।

(ग) अनुवाद—इसमें वेदविहित वाक्यों की पुनरावृत्ति अर्थानुवाद और शब्दानुवाद द्वारा होती है।

## शब्द प्रमाण

शब्द के सम्बन्ध में किये गये प्रश्न को दो भागों में बाँट कर इस पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। (क) क्या शब्द एक प्रमाण है? एवं (ख) क्या शब्द एक स्वतन्त्र प्रमाण है?

इस प्रश्न पर भारतीय विचारकों में कोई खास मतभेद नहीं है। वैशेषिक, बौद्ध एवं चार्वाक शब्द को प्रमाण की कोटि में नहीं रखते हैं। बौद्ध एवं चार्वाक वेद को अपौरुषेय नहीं मानते हैं। इनकी दृष्टि वैदिक वाक्य या शब्द भी संदेह के घेरे में आ सकते हैं।

चार्वाक दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है एवं शब्द को प्रमाण नहीं माना जा सकता है। सभी भारतीय दार्शनिकों ने चार्वाक के इस मत का खण्डन किया है। बौद्धों ने भी शब्द को प्रमाण नहीं माना है। शब्द प्रमाण के विरुद्ध इनके दो आक्षेप हैं—

(1) शब्द भौतिक विषय है और ज्ञान अभौतिक विषय है। समान से समान की उत्पत्ति होती है। इसलिए भौतिक शब्दों से अभौतिक ज्ञान की उत्पत्ति असंभव है। इसलिए बौद्ध शब्द को प्रमाण नहीं मानते हैं। उनका प्रमाण नहीं मानना शब्द के गलत अर्थ लेने के कारण है। वास्तव में शब्द से भौतिक रंग या भौतिक ध्वनि का बोध नहीं होता। ध्वनि अथवा अक्षर तो शब्द के संकेत मात्र हैं। शब्द प्रमाण का सम्बन्ध सार्थक शब्दों के बोध से है। अतः शब्दबोध से ज्ञान की उत्पत्ति होने में कोई विरोध नहीं है।

(2) बौद्धों का दूसरा आक्षेप है—यदि विश्व के सभी प्रकार के ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा ही उपलब्ध हो जाते तो फिर शब्द को प्रमाण मानने की क्या आवश्यकता पड़ती? वैशेषिकों ने भी शब्द को अनुमान के अन्तर्गत ही माना है। बौद्ध एवं वैशेषिक सम्मति के अनुसार प्रश्न उपस्थित हुआ है—‘ननु एतानि’ इत्यादि के द्वारा प्रश्न का आशय जैसा कि पहले भी संकेत किया जा चुका है कि शाब्दबोध को दूसरे शब्द में अन्वयबोध भी कहा जाता है। अन्वय है—संबंध, तदनुसार पदार्थों के बीच पारस्परिक रूप में होने वाले संबंध का बोध ही है—शाब्दबोध। ऐसी परिस्थिति में उक्त पदार्थ संबंध का बोध यदि मान्य अनुमान से ही संपादित हो सके तो शब्द को एक स्वतंत्र प्रमाण क्यों माना जाय? स्मारित—पदार्थ—संसर्गवन्ति इसका विवक्षित अर्थ है—‘स्मारित पदार्थ संसर्ग—ज्ञान—पूर्वकाणि’। तात्पर्य यह है कि—‘घटमानय’ इस शब्द को सुनकर श्रोता इस प्रकार अनुमान करता है कि वक्ता इस वाक्य का प्रयोग वाक्यान्तर्गत पदार्थों के बीच होने वाले संबंधों को समझ कर किया है।’

यदि किसी विषय का ज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द आदि के द्वारा प्राप्त हो तो इससे यह नहीं कहा जा सकता है कि इनमें कोई भी प्रमाण अनावश्यक है। इसलिए शब्द को व्यर्थ अथवा निरर्थक नहीं कहा जा सकता है। अतः प्रमाणों की विविधता किसी भी प्रमाण को निरर्थक या अनावश्यक सिद्ध नहीं

करती है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि शब्द से कुछ ऐसे लौकिक एवं अलौकिक विषयों का ज्ञान होता है, जिनका ज्ञान प्रत्यक्ष तथा अनुमान द्वारा संभव नहीं है। अतः बौद्धों, एवं वैशेषिकों का उपर्युक्त आक्षेप निराधार है।

प्रमाणों की विभिन्नता प्रमात्मक फल की विभिन्नता पर आधारित है। इस वस्तुस्थिति के अनुसार यदि यह सिद्ध कर दिया जाए कि शब्दबोधात्मक प्रमा अनमित्यात्मक प्रमा नहीं है, किन्तु एक प्रकार स्वतंत्र प्रमा है तो उसे अनुमिति भिन्न शाब्दबोधात्मक प्रमा के कारण रूप में शब्द को भी स्वतंत्र प्रमाण मानना ही होगा। साथ ही जब अनुमिति और शाब्द-बोध इन दोनों प्रमितियों के लिए आपेक्षित होने वाले साधनों में महान पार्थक्य पाया जाता है, तब अनुमिति और शाब्दबोध दोनों प्रथाओं को एक कैसे कहा जा सकता है? और जब दोनों प्रमितियां भिन्न होंगी तो दोनों के लिए अपेक्षित होने वाले दो प्रमाण एक कैसे कहे जा सकते हैं? इसलिए शब्द को अनुमान से अतिरिक्त एक स्वतंत्र प्रमाण मानना ही होगा।

वैशेषिकों का कहना है कि जिस प्रकार अनुमान में ज्ञात लिंग (धुआं) के आधार पर अज्ञात लिंगी (आग) का ज्ञान प्राप्त करते हैं, ठीक उसी प्रकार शब्द प्रमाण में भी प्रत्यक्ष शब्द (वाचक) के माध्यम से अप्रत्यक्ष वस्तु (वाच्य) का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। यहाँ शब्द या वाचक लिंग है और वाच्य लिंगी है। इसलिए जिस प्रकार अनुमान के लिए लिंग (हेतु) और लिंगी (साध्य) के बीच व्याप्ति सम्बन्ध आवश्यक है, उसी प्रकार शब्द प्रमाण के लिए भी वाचक और वाच्य के बीच व्याप्ति सम्बन्ध का होना आवश्यक है। इस प्रकार वैशेषिकों के अनुसार शब्द-ज्ञान और अनुमानजन्य ज्ञान प्राप्त करने की विधि समान है। इसलिए शब्द को अनुमान में सरलतापूर्वक अन्तर्भूत किया जा सकता है।

नैयायिकों का कहना है कि वैशेषिकमत व्याप्ति के गलत अर्थ पर आश्रित है। अनुमान में लिंग एवं लिंगी के मध्य स्थित व्याप्ति-सम्बन्ध वास्तविक अथवा स्वाभाविक सहचार का सम्बन्ध है। उदाहरण के लिए धुआं एवं अग्नि के बीच यह सम्बन्ध पाया जाता है। जहां-जहां धुआं है, वहां-वहां आग है। परन्तु शाब्दिक ज्ञान में शब्द (वाचक) तथा अर्थ (उस शब्द से सूचित विषय) के बीच स्वाभाविक सहयोग का सम्बन्ध नहीं पाया जाता है। जहाँ शब्द रहते हैं, वहाँ इनसे सूचित पदार्थों का रहना आवश्यक नहीं है। यदि ऐसी बात होती तो पुस्तकों में हाथी शब्द के रहने पर सचमुच हाथी वहाँ भी विद्यमान रहता। इसी तरह मिठाई शब्द के उच्चारण मात्र से ही मुख में मिठाई आ जाती है। परन्तु ऐसा नहीं होता है। इससे सिद्ध होता है कि शब्द और इससे सूचित पदार्थ के बीच स्वाभाविक सहचार सम्बन्ध नहीं रहता है। अतः शब्द-ज्ञान में व्याप्ति का अभाव रहता है किन्तु अनुमिति के लिए व्याप्ति का होना अनिवार्य है।

अनुमान में लिंग और लिंगी के बीच व्याप्ति-सम्बन्ध रहने के कारण इनमें अन्वय एवं व्यतिरेक दोनों प्रकार का सम्बन्ध पाया जाता है। दूसरे शब्दों में एक

की उपस्थिति का पता दूसरे की उपस्थिति का और एक की अनुपस्थिति से दूसरे की अनुपस्थिति का पता चलता है। लेकिन शब्द (वाचक) और अर्थ (वाच्य) के बीच अन्वय अथवा व्यतिरेक का सम्बन्ध नहीं पाया जाता है। शब्द की उपस्थिति में भी अर्थ अनुपस्थिति रहता है तथा शब्द के अनुपस्थित रहने पर भी अर्थ उपस्थित रहता है। इसलिए शब्द को अनुमान के अन्तर्गत रखना उचित नहीं है।

शब्द-प्रमाण की स्वतन्त्रता अनुभव के द्वारा भी प्रमाणित होती है। जब अन्तरिक्ष यात्री अपनी यात्रा का विवरण हमें देते हैं तो एक प्रकार का शाब्दिक ज्ञान प्राप्त होता है। इस ज्ञान की प्राप्ति न तो प्रत्यक्ष के द्वारा, न अनुमान और न ही उपमान के द्वारा ही हो सकती है। इस ज्ञान की प्राप्ति का एकमात्र साधन शब्द है। अतः शब्द एक स्वतन्त्र प्रमाण है। अद्वैत एवं विशिष्टाद्वैत वेदान्तियों ने भी वेद को अपौरुषेय माना है और उसके कथन को असंदिग्ध ज्ञान बतलाया है। इनकी दृष्टि में इसे स्वतंत्र प्रमाण नहीं मानना अज्ञानता का परिचय देना है। दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द, सर्वपल्ली राधाकृष्णन् आदि ने भी इस बात की सम्पुष्ट की है। इसलिये स्वामी करपात्रीजी महाराज, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि ने चार्वाक के साथ-साथ जैन एवं बौद्ध मतों का भी खण्डन किया है और न्याय एवं वेदान्त मत की सम्पुष्टि की है। अतः शब्द एक स्वतंत्र प्रमाण है। इसके द्वारा प्राप्त ज्ञान यथार्थ एवं असंदिग्ध ज्ञान की मान्यता अर्वाचीन युग में भी है और भविष्य में भी इसकी महत्ता कायम रहेगी।

इस तरह हम देखते हैं कि महर्षि गौतम एवं उनके अनुयायियों ने प्रमाण और प्रमेय पदार्थ की विशद् विवेचना की है और प्रमाणों की असंदिग्धता की विलक्षण व्याख्या की है। इस सम्बन्ध में एम. हिरियन्ना ने ठीक ही लिखा है कि "वैशेषिक विश्व को तत्त्वमीमांसीय दृष्टिकोण से देखता है, जबकि न्याय उसे ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से देखता है।"<sup>65</sup> डॉ. राधाकृष्णन् ने भी इस बात की सम्पुष्टि की है। प्रमाण और प्रमेय-ये दो पदार्थ न्याय के विशेष दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं। न्याय यह जिज्ञासा नहीं रखता कि वस्तुतः स्वतः क्या है, बल्कि इस बात में रुचि लेता है कि कैसे उनकी जानकारी या सिद्धि होती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि न्याय को वस्तुओं के स्वतन्त्र अस्तित्व में कोई सन्देह था। उसने उनका स्वतन्त्र अस्तित्व वैशेषिक की तरह ही निःसंकोच मान लिया, किन्तु ऐसा महसूस किया कि ज्ञान हमें आसानी से भ्रम में डाल सकता है और इसलिए वह यथार्थ एवं असंदिग्ध विचार के नियमों की छानबीन में लग गया। यह दृष्टिकोण शेष चौदह पदार्थों के स्वरूप से और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है क्योंकि ये सब-के-सब या तो सत्य की खोज में सहायक हैं या अतर्कोचित आक्रमणों से उसे बचाने में उपयोगी है। अभाव और हेत्वाभास के अध्ययन करने पर यह और अधिक स्पष्ट हो जाएगा।

---

---

अध्याय-7  
अर्थापत्ति प्रमाण

---

---

जैमिनि ने प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शाब्द—इन तीन प्रमाणों को स्वीकार किया है।<sup>66</sup> किन्तु बाद में चलकर प्रभाकर ने उपमान और अर्थापत्ति को भी सम्मिलित कर लिया है।

जहां किसी पदार्थ में प्रत्यक्ष की व्याख्या करने के लिए एक अन्य वस्तु की कल्पना आवश्यक हो तो वह 'अर्थापत्ति' का विषय है। यह अनुमान से भिन्न है, क्योंकि इस विषय में दृष्टिगत तथ्यों के अन्दर संशय का एक अंश प्रविष्ट होता है, जिसका निराकरण अन्य वस्तु की कल्पना के बिना नहीं हो सकता। जब तक कल्पना नहीं की जाती, देखे गए तथ्य असंगत अथवा संदिग्ध बने रहते हैं। अनुमान में लेशमात्र संशय के लिए स्थान नहीं है। जहां प्रभाकर का यह मत है, वहां कुमारिल का कहना है कि जो दो तथ्य प्रकट रूप में असंगत प्रतीत होते हैं, उनके समन्वय में अर्थापत्ति से सहायता मिलती है। अनुमान में, सुनिश्चित तथ्यों के बीच इस प्रकार की कोई असंगति नहीं होती। डॉ. राधाकृष्णन् का कहना है कि "कुमारिल का विचार अधिक निर्दोष है, क्योंकि देखे गये तथ्य के विषय में यदि कोई संशय है तो वह अर्थापत्तिपरक तर्क की प्रामाणिकता को संदिग्ध बना देगा। जब तक हमें यह निश्चय न हो कि अमुक पुरुष जीवित है और घर पर नहीं है, तब तक हम यह कल्पना नहीं कर सकते कि वह कहीं और है।"<sup>67</sup>

इस प्रमाण की व्याख्या करते हुए स्वामी दयानन्द ने लिखा है कि इसमें किसी बात के कहने से उसके अर्थरूप में कोई दूसरी बात सिद्ध होती है, जैसे किसी ने किसी से कहा कि बादल के होने से वर्षा और कारण के होने से कार्य उत्पन्न होता है तो इस कथन से बिना कहे यह दूसरी बात सिद्ध होती है कि बिना बादल वर्षा और बिना कारण कार्य कभी नहीं हो सकता है।

"जब कोई ऐसी घटना देखने में आये जो बिना किसी दूसरी घटना की कल्पना किये समझ में न आये तो कल्पना की गई घटना अर्थापत्ति कही जाती है।" उदाहरण के लिए मान लें कि राम उपवास कर रहा है, किन्तु उसका मोटापन बढ़ता जा रहा है। साधारणतः ऐसा देखा जाता है कि उपवास और मोटापन बढ़ने में विरोध रहता है। यहां राम के उपवास करने के साथ-साथ मोटा होने की बात समझ में नहीं आती। इसके लिए कल्पना करते हैं कि वह अवश्य रात को पौष्टिक भोजन कर लेता है। उसके रात के भोजन करने की घटना की कल्पना कर लेने से स्थिति स्पष्ट हो जाती है। यही 'अर्थापत्ति' है।

मीमांसकों के अनुसार अर्थापत्ति के द्वारा प्राप्त ज्ञान अन्य साधनों (जैसे—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द) द्वारा प्राप्त ज्ञान से सर्वथा भिन्न है। राम को रात के समय भोजन करते नहीं देखा गया, इसलिए यह प्रत्यक्ष नहीं है। यह अनुमान भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि रात के भोजन करने एवं मोटापन में व्याप्ति—सम्बन्ध (Universal Relation) नहीं है। ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि रात में भोजन करने वाले सभी लोग मोटे हैं। यह शब्द के अन्तर्गत भी नहीं आता, क्योंकि यह आप्त वचन नहीं है। इस प्रकार अर्थापत्ति को अन्य



प्रमाणों में से किसी के भी अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता है। अतः मीमांसक इसे एक स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं।

जब कोई ऐसी घटना देखने में आती है जो बिना एक-दूसरे विषय की कल्पना किये समझ में नहीं आ सकती तो उस अदृष्ट विषय की कल्पना को अर्थापत्ति कहा जाता है। जैसे-मान लीजिए देवदत्त दिन में कभी भोजन नहीं करता, फिर भी दिनो-दिन मोटा होता जाता है। अब यहां इन दोनों बातों में उपवास और शरीर पुष्टि में-परस्पर विरोध देखने में आता है। अब इन दोनों विरुद्ध बातों की उपपत्ति तभी संभव हो सकती है जब यह कल्पना कर ली जाए कि देवदत्त रात में खूब भोजन करता है। इस तरह की कल्पना के द्वारा विरुद्ध कोटि के विषयों का समन्वय हो जाता है और उनकी संगति बैठ जाने से घटना समझ में आ जाती है। ऐसी ही कल्पना को अर्थापत्ति कहते हैं।

अर्थापत्ति के द्वारा उपलब्ध ज्ञान विशिष्ट प्रकार का होता है क्योंकि यह प्रत्यक्ष, अनुमान या शब्द के अन्तर्गत नहीं आता। इस ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता, क्योंकि देवदत्त को हमने रात में भोजन करते हुए नहीं देखा है। यहां शब्द प्रमाण भी नहीं क्योंकि किसी आप्त वाक्य के द्वारा हमें यह बात (कि देवदत्त रात में खाता है) मालूम नहीं हुई है। इसे अनुमान भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शरीर के मोटा होने में और रात्रि में भोजन करने में व्याप्ति-सम्बन्ध (अर्थात् जहां-जहां शरीर का मोटापन रहता है, वहां-वहां रात में भोजन करना भी पाया जाता है) नहीं है, जिसके बल पर हम जान सकें कि देवदत्त रात में भोजन करता है। दैनिक जीवन में अर्थापत्ति का बराबर प्रयोग होता रहता है। उदाहरण के लिए मान लीजिए हम किसी मित्र के घर जाते हैं तो जीवित हैं। वे नहीं मिलते। तब हम सोचते हैं कि 'वे कहीं अन्यत्र गये होंगे'। ऐसा हम क्यों सोचते हैं?' ऐसा सोचना अर्थापत्ति के कारण ही संभव हो सकता है।

इसी तरह वाक्य का अर्थ लगाते समय भी हम कभी-कभी अर्थापत्ति की सहायता लेते हैं। यदि किसी वाक्य में कुछ शब्द जोड़े बिना अर्थ की संगति नहीं बैठती है तो हम उन शब्दों का अध्याहार कर लेते हैं, जैसे-'लाल पगड़ी को बुलाओ' इस वाक्य में 'लाल पगड़ी' से 'लाल पगड़ी वाले मनुष्य' का अर्थ ग्रहण किया जाता है (अर्थात् 'मनुष्य' का अध्याहार कर लिया जाता है)। इसी तरह 'वह गांव गंगाजी पर है', यहां 'गंगाजी पर' का अर्थ लिया जाता है 'गंगाजी के तट पर'। यहां मुख्यार्थ की अनुपपत्ति के कारण अर्थापत्ति के द्वारा एक गौण अर्थ ले लेते हैं।

अर्थापत्ति की समानता उस वस्तु से है, जिसे पाश्चात्य तर्कशास्त्र में Hypothesis कहते हैं। यह Explanatory Hypothesis सा मालूम होता है। परन्तु भेद यह है कि जहां Hypothesis में अनिश्चितता रहती है, वहां अर्थापत्ति में निश्चितता का भाव रहता है। अर्थापत्ति में विश्वास रहता है कि यहां यही एकमत उपपत्ति कल्पना अथवा संभव है, दूसरी नहीं। अर्थापत्ति को

अनुमान या निगमन भी नहीं कह सकते क्योंकि अनुमान का काम है दिये हुए वाक्यों से निष्कर्ष निकालना, न कि दी हुई घटना के कारण की उपपत्ति करना। अनुमान हेतु से निगमन की ओर जाता है, अर्थापत्ति फल देखकर हेतु की कल्पना करती है।

अतः मीमांसक लोग प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों के समान अर्थापत्ति को भी अलग एवं स्वतंत्र प्रमाण मानते हैं और उसका लक्षण (अनुपपद्यमानार्थ-दर्शनात् तदुपपादकीभूतार्थान्तरकल्पनम् अर्थापत्तिः) इस प्रकार करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि किसी अनुप-पद्यमान अर्थ को देखकर उसके उपपादक अर्थ की कल्पना जिस प्रमाण के द्वारा की जाती है, उसे अर्थापत्ति कहते हैं। समकालीन दार्शनिकों में एस. राधाकृष्णन्, स्वामी विवेकानन्द एवं दयानन्द सरस्वती ने भी इस प्रमाण की महत्ता को स्वीकार किया है।

### अर्थापत्ति के प्रकार

अर्थापत्ति दो प्रकार की होती है—एक दृष्टार्थापत्ति और दूसरी श्रुतार्थापत्ति। जहां अनुपपद्यमान अर्थ को स्वयं आंखों से देखकर उसके उपपादक अर्थ की कल्पना की जाती है, वह दृष्टार्थापत्ति कहलाती है और जहां किसी अन्य के मुख से अनुपपद्यमान अर्थ को सुनकर उसके उपपादक अर्थ की कल्पना की जाती है, वह श्रुतार्थापत्ति कहलाती है। हिरियन्ना ने ठीक ही लिखा है, “जिस बात का अनुभव से विरोध प्रतीत होता हो, उसकी उपपत्ति के लिए किसी बात का अभ्युपगम कर लेना अर्थापत्ति है और इसलिए इसका स्वरूप प्राक्कल्पना के जैसा है। प्रकारान्तर से यह कहा जा सकता है कि अर्थापत्ति उस बात को व्यक्त कर देता है, जो ऐसे दो तथ्यों में पहले से निहित है, जो समुचित रूप से सत्यापित होने के बावजूद परस्पर असंगत लगते हैं। जैसे—हम जानते हैं कि देवदत्त जीवित है, पर उसे हम घर के अन्दर नहीं पाते, तो हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि वह अन्यत्र नहीं होता। अर्थापत्ति का एक अन्य प्रसिद्ध उदाहरण उस व्यक्ति का है जो दिन में न खाने के बावजूद भी मोटा-ताजा बना रहता है, जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वह रात में खाता होगा। यह स्पष्टतः ज्ञात से अज्ञात को जानने का एक वैध तरीका है, लेकिन यह अनुमान से भिन्न प्रतीत नहीं होता। इसलिए नैयायिक इत्यादि कुछ लोग इसका अनुमान में अन्तर्भाव कर देते हैं और इसे स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते। इसकी स्वतन्त्रता के समर्थन में यह तर्क दिया जाता है कि यहां निष्कर्ष को अनुमान से प्राप्त नहीं माना जा सकता, क्योंकि यहां हेतु है ही नहीं। पहले उदाहरण में ‘जीवित होना’ अकेला हेतु का काम नहीं कर सकता, क्योंकि उसके आधार पर यह निष्कर्ष अनिवार्य रूप से नहीं निकलता कि देवदत्त घर से बाहर है। उससे तो यह निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है कि वह घर के अन्दर है। ‘घर के अन्दर न होना’ भी अकेला हेतु नहीं हो सकता, क्योंकि इससे यह निष्कर्ष निकालना भी उतना ही उचित है कि देवदत्त जीवित नहीं है। अतः हमें बाध्य होकर ‘जीवित होना’ और ‘घर के अन्दर

न होना' इन दोनों के संयुक्त रूप को हेतु मानना पड़ेगा। लेकिन इस संयुक्त रूप में 'देवदत्त का घर के बाहर होना' पहले से ही शामिल है, जिसे कि प्रतिपक्षी अनुमान से सिद्ध करना चाहता है। तात्पर्य यह है कि यहां निष्कर्ष हेतु के अन्दर पहले से ही विद्यमान रहता है जबकि अनुमान में कभी ऐसा नहीं होता। एक अन्य तर्क यह दिया जा सकता है कि अनुमान में आधार (धूम) उत्पन्न होता है और निष्कर्ष (अग्नि) उपपादक होता है, जबकि यहां आधार ('जीवित होते हुए घर के अन्दर न रहना') उपपादक होता है और निष्कर्ष ('बाहर होना') उपपन्न होता है। सच्चाई यह है कि अर्थापत्ति वियोजक हेत्वानुमान है, साधारण अर्थ में अनुमान नहीं। यदि हम उसे साधारण अनुमान के रूप में रखें तो व्याप्ति एक निषेधात्मक पूर्णव्यापी तर्क वाक्य होगी, जिसे नैयायिक के विपरीत मीमांसा के दोनों सम्प्रदायों के अनुयायियों ने अनुमान के आधार के रूप में स्वीकार नहीं किया है। वे केवल अन्वय-व्याप्ति को मानते हैं, व्यतिरेक व्याप्ति को नहीं। इस प्रकार जहां अन्वय-व्याप्ति सम्भव न हो, वहां अर्थापत्ति के लिए गुंजाइस रह जाती है।

अतः मीमांसकों द्वारा प्रस्तुत अर्थापत्ति की अवधारणा उपयुक्त एवं युक्तिसंगत प्रतीत होता है। वेदान्तियों ने भी अपने ढंग से मीमांसकों के द्वारा उपर्युक्त मत का समर्थन किया है अर्थात् वेदान्तियों ने भी इसे अन्य प्रमाणों की तरह पृथक् एवं स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में रामानुज का मत आज भी उपयोगी सिद्ध हो रहा है।

---

अध्याय-8  
अनुपलब्धि प्रमाण

---

जैमिनि ने तीन प्रमाणों की स्वीकृति दी है, जो भाष्यकर्ता शबर की उक्ति से स्पष्ट है किन्तु बाद के मीमांसक प्रभाकर ने पांच और कुमारिल भट्ट ने छः प्रमाणों को आवश्यक माना है। फिर भी डॉ. राधाकृष्णन् ने लिखा है कि “वृत्तिकार का अनुसरण करते हुए कुमारिल अनुपलब्धि को ज्ञान का एक स्वतन्त्र साधन स्वीकार करता है।”<sup>68</sup> कुमारिल भट्ट ने अन्य प्रमाणों की तरह इसे भी स्वतंत्र प्रमाण के रूप में दर्शाया है।

किसी विषय के अभाव के साक्षात् ज्ञान (Immediate Knowledge) को ही ‘अनुपलब्धि’ कहते हैं। अद्वैत वेदान्तियों ने भी इसे एक स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में अपनाया है। ‘अभी इस कक्षा में विद्यार्थी नहीं हैं।’ यहां विद्यार्थियों के अभाव का ज्ञान हमें अनुपलब्धि द्वारा ही हो पाता है। यह ज्ञान किसी अन्य साधन द्वारा संभव नहीं है। प्रभाकर मीमांसा, न्यायदर्शन एवं सांख्यदर्शन के अनुसार अनुपलब्धि को एक स्वतन्त्र प्रमाण नहीं कहा जा सकता है। इनके अनुसार इसका अन्तर्भाव ‘प्रत्यक्ष’ में किया जा सकता है। किन्तु मीमांसक इस मत का खंडन करते हैं।

भट्ट मीमांसा और अद्वैत वेदान्त का मत है कि किसी विषय के अभाव का जो साक्षात् ज्ञान होता है, वह अनुपलब्धि प्रमाण के द्वारा ही होता है। इस कोठरी में घड़ा नहीं है। यहां घर का अभाव मुझे कैसे विदित होता है? अतएव भट्टमीमांसक और अद्वैत वेदान्तियों का कहना है कि यहां घटाभाव का ज्ञान घट की अनुपलब्धि (अदर्शन) के कारण होता है। यह प्रत्यक्ष से नहीं जाना जा सकता है कि कोठरी में घड़ा नहीं है।

जिस तरह उपर्युक्त ज्ञान प्रत्यक्ष की कोटि में नहीं आता, उसी तरह अनुमान की कोटि में भी नहीं आता है। यदि ऐसा कहा जाता है कि घर का अभाव घर के अदर्शन से अनुमान किया जाता है तो वह संगत नहीं होगा क्योंकि ऐसा अनुमान तभी संभव होता जब हमें अदर्शन (अनुपलब्धि) और अभाव में व्याप्ति-सम्बन्ध का ज्ञान रहता अर्थात् जब हमें ऐसा ज्ञान रहता कि जिस वस्तु का दर्शन नहीं होगा, उसका अभाव रहता है। परन्तु यदि ऐसा मान लें तो आत्माश्रय दोष (Petitioprincipii) उपस्थित हो जाएगा क्योंकि जो सिद्ध करना है, उसे हम पहले ही मान लेते हैं।

इसी तरह ज्ञान शब्द या उपमान के अन्तर्गत भी नहीं आता क्योंकि यहां आप्त वाक्य या सादृश्य ज्ञान नहीं है। इस प्रकार घटाभाव (“यहां घड़ा नहीं है”) का जो साक्षात् ज्ञान हमें प्राप्त होता है, उसकी उपपत्ति करने के लिए हमें स्वतन्त्र प्रमाण मानना होगा। उपमान भी नहीं है, क्योंकि सादृश्य अथवा संज्ञा-संज्ञी सम्बन्ध का अनुभव नहीं होता है। इसीलिये इसको ‘अनुपलब्धि’ कहते हैं।

इस सम्बन्ध में यह बात द्रष्टव्य है कि अनुपलब्धि मात्र से अभाव सूचित नहीं होता। रात्रि के घने अंधकार में घड़ा रहते हुए भी नहीं सूझता। परमाणु, आकाश, पाप, पुण्य आदि अदृश्य पदार्थ भी प्रत्यक्ष नहीं होते। तथापि

योग्यानुपलब्धि हम उनका अभाव नहीं मानते। जिस वस्तु की जिस परिस्थिति में उपलब्धि होनी चाहिए, उस परिस्थिति में उसकी उपलब्धि नहीं होने से ही उसका अभाव जाना जाता है। इस तरह अभाव ज्ञान का कारण योग्यानुपलब्धि (अर्थात् प्रत्यक्ष-योग्य वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होना) है।

हिरियन्ना ने ठीक ही लिखा है कि यह अभाव का, जैसे किसी स्थान में घट का या परमाणुओं के न होने का ज्ञान कराने वाला विशिष्ट प्रमाण है। न्याय की तरह भट्ट सम्प्रदाय भी अभावात्मक तथ्यों को मानता है, लेकिन उसके विपरीत यह उनके ज्ञान के लिए एक स्वतन्त्र प्रमाण मानता है। 'अनुपलब्धि' शब्द का अर्थ है पिछले पांच प्रमाणों में से किसी से भी ज्ञान का न होना। इसका मतलब यह है कि जिस प्रकार इन पांच प्रमाणों से प्राप्त ज्ञान वस्तुओं के भाव की ओर इशारा करता है, उसी प्रकार ऐसे ज्ञान का अन्य हेतुओं के समान रहते हुए न होना वस्तुओं के अभाव की ओर इशार करता है। केवल इतना याद रखना चाहिए कि यदि ज्ञान के अभाव को वस्तु के अभाव का सूचक होना है तो उसके साथ-साथ संबंधित वस्तु का मन में प्रत्यक्ष भी होना चाहिए। किसी स्थान-विशेष में अनेक वस्तुओं का अभाव हो सकता है, लेकिन हम उनमें से केवल उसी वस्तु के अभाव की बात सोचते हैं, जिसकी बात सोचने के लिए कोई अन्य परिस्थिति हमें बाध्य करती है। नैयायिक अभावों को उनके प्रतियोगियों के दृश्य या अदृश्य होने के अनुसार दो वर्गों में रखता है। पहले प्रकार के अभावों के ज्ञान का साधन वह प्रत्यक्ष को मानता है और दूसरे प्रकार के अभावों के ज्ञान का साधन अनुमान को। मीमांसा अभाव के इन दोनों ही प्रकारों के ज्ञान का साधन छटे प्रमाण अनुपलब्धि को मानती है। उसके अनुसार कोई भी अभाव प्रत्यक्ष से ज्ञेय नहीं है। इसका कारण यह बताया गया है कि प्रत्यक्ष के लिए जो 'इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष' आवश्यक होता है, वह अभाव के मामले में संभव नहीं है। दूसरा कारण यह बताया गया है कि अनेक दृष्टान्तों में ज्ञानेन्द्रियों के सक्रिय न होने पर भी प्रत्यक्ष योग्य वस्तुओं के अभाव का ज्ञान होता देखा जाता है। जैसे हो सकता है कि एक विशेष दिन सवेरे एक व्यक्ति ने हाथी की बात सोची भी न हो, लेकिन बाद में किसी कारणवश उसे यह ख्याल हो आया हो कि सवेरे उसने हाथी नहीं देखा था। इस ज्ञान के भूतकाल से संबंधित होने के कारण ज्ञान के समय होने वाले ज्ञानेन्द्रियों के व्यापार से इसका सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता। सुबह के समय का उनका व्यापार भी उसका कारण नहीं हो सकता, क्योंकि अभाव के प्रतियोगी, हाथी की बात प्राक्कल्पनातः उस समय सोची ही नहीं गई थी और इसलिए उसके अभाव का ज्ञान हो ही नहीं सकता था। अतः अभाव का ज्ञान कराने वाले प्रमाण को अनुमान के अन्दर भी नहीं लाया जा सकता, क्योंकि ऐसा करने के लिए व्याप्त इस वाक्य को मानना पड़ेगा, "जहां भी अन्य परिस्थितियों के समान रहते हुए किसी वस्तु के ज्ञान का अभाव होता है, वहां उस वस्तु का भी अभाव होता है।" इस व्याप्ति में दो अभाव-पदों का सम्बन्ध जोड़ा गया है और चूंकि व्याप्ति को अन्ततः प्रत्यक्ष

पर आधारित होना चाहिए इसलिए यह मान लेना होगा कि इन दो अभाव-पदों का ज्ञान प्रत्यक्ष से हुआ है, जो कि उनके ज्ञान को अनुमान मूलक मानने के विरुद्ध हैं। प्रभाकर के अनुयायी अनुपलब्धि-प्रमाण को नहीं मानते, क्योंकि वे इसके एकमात्र विषय अभाव को ही नहीं मानते। वे जैसा कि हम अगले अनुच्छेद में देखेंगे, अभाव की व्याख्या उसके प्रत्यक्ष में शामिल भाव-वस्तुओं की सहायता से करते हैं।

मीमांसक बाह्यार्थवादी है और उसके बाह्यार्थवाद में अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। उदाहरणार्थ, सौत्रान्तिक और वैभाषिक मत के विपरीत वह नित्य द्रव्यों के अस्तित्व को मानता है। ये गुणों के अधिष्ठान हैं, न कि क्षणिक ऐन्द्रिक दत्तों के समूह मात्र। यहां तक मीमांसा का न्याय-वैशेषिक से मतैक्य है। परन्तु उसका उसमें मतभेद भी है। पहले हमें भट्ट-मत का उससे मतभेद बतलाना उचित प्रतीत होता है। भट्ट नये द्रव्य की उत्पत्ति नहीं मानता। इसके बजाय वह परिवर्तन के सिद्धान्त को मानता है। प्रत्येक द्रव्य नित्य है और रूप तथा गुणों के बदलने पर भी वही बना रहता है। सामने हम जिस मिट्टी को देखते हैं, वह कभी घड़े का और कभी तश्तरी का आकार ग्रहण कर सकती है; वह इस समय भूरी और बाद में लाल हो सकती है। लेकिन इन सब रूपान्तरों में उपादान बही बना रहता है। द्रव्य स्थायी होता है, केवल उसके रूप ही आगमापायी होते हैं। दूसरे शब्दों में, कुमारिल भट्ट ने इस मत का निषेध किया है कि वस्तुएँ बिल्कुल ही भेदशून्य हैं और बिल्कुल एक-जैसी बनी रहती हैं। वास्तविकता के बारे में यह धारणा सामान्य रूप से सांख्य-योग की धारणा से मिलती-जुलती है। यह परिणामवाद है और यहां उपादान कारण और कार्य का सम्बन्ध वहां की तरह ही भेदाभेद माना गया है। दोनों में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि यहां परिवर्तनशील द्रव्यों को अन्त में एक नहीं, बल्कि अनेक माना गया है। अनुसंगत एक अन्तर यह भी है कि कुमारिल परिणाम की धारणा को आत्मा में भी लागू कर देते हैं जबकि सांख्य ने आत्मा को नितान्त अपरिणामी और निष्क्रिय माना है। भौतिक जगत् में परिवर्तन निरन्तर होता रहता है। यह परिवर्तन न कभी शुरू हुआ और न कभी समाप्त होगा। मीमांसा जगत् की सृष्टि और प्रलय को नहीं मानती।

कुमारिल भट्ट का कहना है कि जगत् कभी अन्यथा नहीं था (न कदाचित् अनीदृशं जगत्)। वस्तुएं निःसंदेह आती-जाती रहती हैं, परन्तु इसकी व्याख्या वास्तविकता की स्वपरिणामिता से हो जाती है। जगत् में जो भी परिवर्तन किसी समय होता है, उसकी प्रेरणा उस समय के जीवों के पिछले कर्मों से मिलती है। फलतः ईश्वर की धारणा के लिए इस तन्त्र में कोई स्थान नहीं रह जाता। सबसे बड़ा आस्तिक होने का दावा करने वाले दर्शन का निरीश्वरवादी होना वस्तुतः विचित्र सा लगता है। पूरे मीमांसा-मत को यदि एक शब्द में व्यक्त किया जाए तो उसे शुद्ध इन्द्रियानुभववादी कहा जा सकता है।

किन्तु वास्तविकता कुछ और ही है। वस्तुतः भौतिकवादियों एवं क्षणिक प्रत्ययवादियों के विपरीत अपने मन्तव्य को सिद्ध करना था इसलिए उन्होंने उपर्युक्त तर्क की सहायता से अनुपलब्धि प्रमाण का अस्तित्व सिद्ध किया है। किन्तु न्याय और वैशेषिक मतावलंबियों की दृष्टि में उपर्युक्त मुक्ति उचित नहीं है। किन्तु वेदान्तियों ने मीमांसा दर्शन की तरह अनुपलब्धि प्रमाण को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है। न्याय और वैशेषिक मत का खण्डन भी किया है। समकालीन दार्शनिकों में दयानन्द सरस्वती ने इसके अतिरिक्त चार और स्वतंत्र प्रमाणों की सत्ता को स्वीकार किया है। करपात्रीजी महाराज ने भी वेदार्थपारिजात में षष्ठ प्रमाणों को स्वीकार किया है। करपात्रीजी यद्यपि दयानन्द से पूर्णतः सहमत नहीं हैं किन्तु छः प्रमाणों की यथार्थता को कबूल किया है। मीमांसकों में प्रभाकर के अनुयायी अनुपलब्धि-प्रमाण को नहीं मानते हैं, क्योंकि वे इसके एकमात्र विषय अभाव को ही नहीं मानते हैं। हरिमोहन झा ने कुमारिल के मत को अधिक उपयुक्त ठहराया है। डॉ. राधाकृष्णन् ने भी कुमारिल के कथन को उपयुक्त ठहराया है।



---

---

अध्याय-9

भारतीय ज्ञानमीमांसा में ख्यातिवाद की  
समीक्षात्मक विवेचना

---

---

भारतीय दर्शन में सत्य एवं भ्रम विषयक सिद्धान्तों का विवरण अत्यंत रोचक है। प्रत्येक दार्शनिक निकाय में अपनी ज्ञानमीमांसा के अनुसार ही सत्य और भ्रम विषयक सिद्धान्तों का निरूपण किया है।

जहां जो वस्तु नहीं है, वहां उसका निश्चयात्मक ज्ञान एवं जो जिस प्रकार का नहीं है, उसे वैसे निश्चित करना भ्रम अथवा विपर्यय है। रस्सी को सर्प समझना भ्रम का उदाहरण है। भ्रम में सीप चांदी दिखाई देती है, मरुस्थल में जल का आभास होता है आदि। इन भ्रान्तिविषयक सिद्धान्तों को “ख्यातिवाद” कहते हैं।

ख्यातिवाद के अपने-अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए आचार्यों ने अन्य सिद्धान्तों का खण्डन और अपने मत का मण्डन भी किया है।

### **प्रभाकर मिश्र का अख्यातिवाद (विवेकख्यातिवाद)**

इस सिद्धान्त के अनुसार सभी ज्ञान सत्य हैं। भ्रम किसी मिथ्या वस्तु का ज्ञान नहीं है, वरन् दो वस्तुओं के पृथक् ज्ञान को एक-दूसरे से गड़बड़ा देने से होता है। रज्जु में सर्प-ज्ञान को भ्रम कहते हैं। यहां हमें रज्जु का प्रत्यक्ष और सर्प का स्मृति ज्ञान होता है। यहां विवेक न रहने पर हम रज्जु को ही सर्प मान लेते हैं। यह भ्रम किसी दोष के कारण होता है। ‘प्रभाकर’ इसे “स्मृति दोष” अर्थात् स्मृति में बाधा या आवरण उत्पन्न होना मानते हैं। उनके अनुसार किसी ज्ञान को मिथ्या मानना उसे ज्ञान न मानने के समान है। यह मत मान्य नहीं हो सकता। यदि सर्प के ज्ञान को हम स्मृति मानें तो प्रश्न होगा कि वह हमें दिखाई क्यों देता है? यदि स्मृति होते हुए भी दिखाई देना मानें तो स्मृति और प्रत्यक्ष में अन्तर नहीं रहेगा। प्रभाकर मीमांसक यह मानें कि भ्रम के समय स्मृति का सर्प दिखाई नहीं देता है, तो यह अनुभव विरुद्ध है। इसके अतिरिक्त स्मृति का अनुभव जैसा होता है, वैसा ही सर्प प्रतीत होना चाहिए। उसे सामने मानकर हम डर नहीं सकते हैं। स्मृति का सर्प परिचित होता है और भ्रम का सर्प अपरिचित है। इस कारण हम यह नहीं मान सकते हैं कि हमें स्मृति का सर्प दिखाई देता है। इस कारण नैयायिक और वेदान्ती यही मानते हैं कि भ्रम के समय शुक्ति (इदं रूप में) और चांदी दोनों हमारी चेतना में आते हैं, तभी हम कहते हैं कि “यह रजत है”। न रजत स्मृति रूप है और न केवल शुक्ति हमारी चेतना में आती है।

गंगेश के अनुसार भ्रान्ति में हमें दोनों वस्तुओं का ज्ञान होता है, एक का नहीं। शुक्ति का ज्ञान सामान्य प्रत्यक्ष रूप में होता है और रजत का ज्ञान “ज्ञान-लक्षण सन्निकर्ष” से होता है।

इसके अतिरिक्त अख्यातिवाद का सिद्धान्त इसलिए भी ऋटिपूर्ण है कि वह ज्ञान व्यक्ति को कर्म में प्रवृत्त नहीं कर सकता। एक ही वस्तु में शुक्ति और रजत का सत्य ज्ञान एक साथ नहीं हो सकता। यदि दोनों को आगे पीछे मानें,

तो न शुक्ति ज्ञान कर्म के लिए प्रेरित करेगा क्योंकि वह लोभ उत्पन्न नहीं कर सकता और न उसके बाद होने वाला स्मृति रूप रजत ज्ञान कर्म के लिए प्रेरित कर सकता है, क्योंकि वह स्मृति रूप प्रत्यक्ष रूप नहीं।

### विपरीतख्यातिवाद (कुमारिल)

यह मत भट्टमीमांसकों का है। उनका मत है कि किसी-किसी समय मिथ्या विषय भी प्रत्यक्ष सा भासित होने लगता है। जब हम रस्सी में सर्प का प्रत्यक्ष करते हैं और कहते हैं कि “यह सर्प है” तो यहां उद्देश्य और विधेय दोनों यथार्थ हैं। जो रस्सी वर्तमान है, वह सांप की कोटि में ले जाती है। वस्तुतः सत्ता दोनों की ही हैं। भ्रम इस बात को लेकर होता है कि हम दो यथार्थ किन्तु पृथक् वस्तुओं में उद्देश्य-विधेय का संबंध स्थापित कर देते हैं। भ्रम इसी संबंध या संसर्ग को लेकर होता है, न कि विषयों को लेकर जो वास्तविक पदार्थ है। ऐसे भ्रम के कारण लोग विपरीत आचरण करते हैं। इसे विपरीतख्यातिवाद इसीलिए कहा जाता है कि इसके कारण अकार्य में कार्यता का भान अथवा आभास होता है।<sup>69</sup>

कुमारिल भट्ट का मत वास्तव में नैयायिकों के भ्रम विषयक मत से मिलता-जुलता है। अतः इसकी समीक्षा भी नैयायिकों के भ्रम विषयक सिद्धान्त के समान ही समझनी चाहिए।

### असत्ख्यातिवाद (माध्यमिक)

जिस वस्तु की भ्रान्तप्रतीति होती है वह असत् है। अतः असत् वस्तु का सत् के समान भासित होना असत् ख्याति है। ज्ञाता विज्ञान और ज्ञेय बाह्य वस्तुएं दोनों शून्य होने के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि किसी वस्तु का बोध कैसे होता है। माध्यमिक उसकी व्याख्या संस्कार से करते हैं। हम अपने संस्कारों के कारण बाहर वस्तु न होने से भी देखते हैं। संस्कार पूर्व प्रत्यक्ष के कारण निर्मित होते हैं और वह पूर्व प्रत्यक्ष भी उसके पूर्व संस्कार के कारण था। इस प्रकार संस्कार और प्रत्यक्ष अन्योन्याश्रित है और दोनों ही निःस्वभाव और शून्य है।<sup>70</sup>

चद्रकीर्ति एक कारिका पर टीका करते हुए लिखते हैं कि द्रष्टा के अभाव में द्रष्टव्य और दर्शन भी नहीं है। अतः विज्ञान, स्पर्श, वेदना और तृष्णा चतुष्टय भी नहीं है।<sup>71</sup>

अतः अनुभव जगत् अज्ञान जन्य प्रतीतियों से उत्पन्न भ्रम मात्र है। प्रभाचंद्र<sup>72</sup> का आक्षेप भी कुछ इसी प्रकार है।

### आत्मख्यातिवाद

बौद्धों के योगाचार सम्प्रदाय इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इनके दर्शन में क्षणिक विज्ञान मात्र की सत्ता स्वीकार की जाती है। इसके अतिरिक्त न कोई बाह्य पदार्थ है और न नित्य आत्म-तत्त्व। बाहर जो कुछ जगत् दिखाई दे

रहा है वह हमारे विज्ञान का ही प्रक्षेप है। विज्ञान एक विशाल सागर के समान है, जिसमें अविराम गति से लहरें उठती हैं। तरंगायित विज्ञान में नाना रूप जगत् की प्रतीति होती है। योगाचार सम्प्रदाय भ्रांति को वासना के कारण विज्ञान के प्रक्षिप्त मानता है, इसलिए आत्मख्यातिवाद कहते हैं। इस मत के अनुसार विज्ञान के रूप में शुक्ति और उस पर अध्यस्त रजत दोनों सत्य हैं किन्तु बाह्य पदार्थ के रूप में वे दोनों असत्य हैं।

### अन्यथाख्यातिवाद (नैयायिक ख्यातिवाद)

भ्रम विषयक नैयायिकों का सिद्धान्त अन्यथाख्यातिवाद कहलाता है। भ्रांति की उत्पत्ति प्रस्तुत वस्तु और समझी हुई वस्तु का गलत संयोग है।

“अन्या” का अर्थ है “अन्य प्रकार से” और “अन्य स्थान में”। भ्रम में ये दोनों ही बातें होती हैं। प्रस्तुत वस्तु अन्य प्रकार से दिखाई देती है और दिखाई देने वाली वस्तु अन्य स्थान में विद्यमान न होती है। इसीलिये नैयायिकों के इस मत को अन्यथाख्याति का सिद्धान्त माना जाता है। उदयनाचार्य, गंगेश उपाध्याय आदि ने इसकी विशद् विवेचना प्रस्तुत की है।

### सदसदख्यातिवाद (सांख्यख्यातिवाद)

सांख्यदर्शन के अनुसार भ्रम एक अंश में सत् और दूसरे अंश में असत् हैं। इस प्रकार यह सत् और असत् का संयोग है। “यह रजत है” इस भ्रांत ज्ञान में “यह” शुक्ति का वाचक है और “वह” सत् है। “रजत” की प्रतीति असत् है क्योंकि वहां रजत नहीं है फिर भी रजत दिखाई देता है। परीक्षा करने पर रजत का बोध भी हो जाता, इसीलिए वह मिथ्या है। इस प्रकार भ्रम में सत् और असत् दोनों वस्तुएँ सम्मिलित होती हैं। दोनों का पृथक् ज्ञान नहीं हो पाता है।

### सत्ख्यातिवाद (रामानुजख्यातिवाद)

प्राचीन सांख्य और प्रभाकर के मीमांसा दर्शन में भी इसी मत को स्वीकार किया गया है। इनके अनुसार शुक्ति में रजत की प्रतीति भ्रांति नहीं है। वह आंशिक सत्य है। यदि पूर्ण सत्य ज्ञात हो तो भ्रांति नहीं हो सकती। आंशिक सत्य को पूर्ण सत्य का ज्ञान भ्रम का निवारण है। सत्य का ज्ञान भ्रम का बोध नहीं करता, वरन् उसे पूर्णता प्रदान करता है। सभी ज्ञान यथार्थ होते हैं—“यथार्थ सर्वविज्ञानम्” भ्रम नाम का कोई ज्ञान नहीं है। रामानुज के अनुसार सभी ज्ञान सत्य हैं, भले ही आंशिक सत्य हो। जीव आंशिक सत्य को ही जानता है और ईश्वर को ही पूर्ण ज्ञान रहता है इसलिये उन्हें भ्रम नहीं होता है। वे भ्रम और अध्यास से परे हैं। मनुष्य के लिए ही भ्रम का अस्तित्व है।

### अनिर्वचनीय ख्यातिवाद (शंकराचार्य के द्वारा प्रस्तुत ख्यातिवाद)

अद्वैत-वेदान्त उपर्युक्त किसी सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं। इन सभी सिद्धान्तों का खण्डन किया है। उनका अपना मत अनिर्वचनीय ख्यातिवाद

कहलाता है। यह सिद्धान्त सर्वाधिक वैज्ञानिक और तर्क संगत है। उनमें से पहला मत है 'अन्यत्रान्यधर्माध्यासः'<sup>73</sup> अर्थात् एक में दूसरे के धर्म के आरोप को अध्यास कहते हैं। शंकराचार्य द्वारा उद्धृत दूसरा भ्रम सिद्धान्त इस प्रकार है—

“यत्र यदध्यासस्तद्विवेकाग्रहनिबन्धनो भ्रम”<sup>74</sup> अर्थात् जिसमें अध्यास है उसके भेद को न ग्रहण करना भ्रम है। यह मत सांख्य और मीमांसकों के अख्यातिवाद का सूचक है।

तीसरा मत है—“यत्र यदध्यासः तस्यैव विपरीतधर्मत्वकल्पनामाचक्षते”<sup>75</sup> अर्थात् जिसमें जिसका अध्यास है उसमें विरुद्ध धर्मत्व की कल्पना को अध्यास कहते हैं। यह मत माध्यमिकों का हो सकता है, जिसे असत् ख्यातिवाद कहते हैं।

इन सभी पक्षों पर विचार करने पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि भारतीय दर्शन में ख्यातिवाद का तुलनात्मक अध्ययन के अनुसार अद्वैत-वेदान्त द्वारा प्रतिपादित अनिर्वचनीय ख्यातिवाद, जो भ्रम की समस्या की व्याख्या एक सीमा तक सफलतापूर्वक करता है, निश्चय ही अन्य सिद्धान्तों की तुलना में उपयुक्त सिद्धान्त हो सकता है। यद्यपि दर्शन में कोई भी सिद्धान्त पूर्णतः निर्दोष नहीं माना जाता है, फिर भी तुलनात्मक दृष्टि से किसी एक सिद्धान्त को अन्य सिद्धान्त से अधिक तर्कसंगत कह सकते हैं। इस दृष्टि से आदिशंकराचार्य का मत सर्वोत्कृष्ट है। संभवतः इसी लिए इन्हें ग्रीक दार्शनिक प्लेटो की तरह पूर्ण दार्शनिक बतलाया गया है। डॉ. राधाकृष्णन् ने भी इन्हें कम्प्लिट फिलॉसफर माना है। शंकर की दृष्टि में सम्पूर्ण संसार परिवर्तनशील है इसलिये भ्रम ही है। मात्र ब्रह्म ही सत्य है क्योंकि उनका ज्ञान बाधित नहीं होता है। नित्य में अनित्य का अनुभव करना ही भ्रम है। ब्रह्म अनेक हो नहीं जाता बल्कि प्रतीत होता है इसलिये भ्रम कहा जाता है। ज्ञानी को भ्रम नहीं होता बल्कि अज्ञानी ही भ्रम का शिकार होता है। सांसारिक मानवों के लिए रामानुज का सत्ख्याति का सिद्धान्त ही युक्तिसंगत एवं वैज्ञानिक मत के समतुल्य है। रामानुज की दृष्टि में शंकर का दर्शन “Finished example of learned error” है। Dark with the excess of light भी कहा जाता है। डॉ. राधाकृष्णन् ने भी इस बात की सम्पुष्टि की है। यद्यपि इन्होंने रामानुज से भी पूर्णतः सहमत नहीं हैं। इनकी दृष्टि में शंकर ही पूर्ण दार्शनिक हैं। इनका दर्शन ही कम्प्लिट फिलॉसफी कहलाता है। शंकर की तुलना प्लेटो और ब्रैडले से भी की जाती रही है। किन्तु दोनों में भिन्नता भी है।

अद्वैतवादियों की सत्यता एवं असत्यता सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए एच.एम. भट्टाचार्य ने ठीक ही लिखा है—“The Advaitist... A pure unity can not admite of any degree either of truth or of reality. The doctrine of Adhyîsa tells us that our empirical world and our experiences of it all but products of illusion, so that neither experience, nor its

object, can have any truth or reality when viewed from the standpoint of ultimate Truth and Reality." <sup>76</sup>

इस सम्बन्ध में रामानुजाचार्य के मत को दर्शाते हुए भट्टाचार्यजी ने ठीक ही लिखा है कि "From what we have stated we may now gather that according to Ramanuja not only correspondence is a necessary condition both for the nature and test of truth but also it must be supplemented by the pragmatic condition or adaptability to practice as well as by consilience or some sort of coherence with social experience."<sup>77</sup>

---

---

अध्याय-10  
दर्शन और विज्ञान

---

---

दर्शन शब्द का शाब्दिक अर्थ देखना होता है। अब प्रश्न उठता है कि किसको देखना है? भारतीय मनीषियों के अनुसार सत्य को देखना या सत्य का साक्षात्कार करना या साक्षात् अनुभव करना ही दर्शन कहलाता है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से इसका अर्थ—“जिसके द्वारा देखा जाए” होता है। अंग्रेजी में इसे फिलोसॉफी कहा जाता है। फिलॉसफी दो शब्दों के योग से बनती है—Philo+Logos। Philo का अर्थ बुद्धि और Logos का अर्थ ज्ञान होता है। अर्थात् बौद्धिक ज्ञान ही दर्शन है। इस सम्बन्ध में फ्रेंक थिली (Thilly) ने ठीक ही लिखा है—“The fundamental concept in the system of philo is the idea of God. God is an absolutely transcendent being, so far above us that we cannot comprehend him or define him, he is the inflabtion, the greatest good, who is above both knowledge and virtue. All such powers he combines into one, the logos, the divine reason or wisdom”. एच.एम. भट्टाचार्य के शब्दों में “The word philosophy comes from the Greek words philo, love and sophia, wisdom. Socrats liked to be a philosopher, a humble lover of wisdom unlike the sophists the wise men... So in India philosophy arose from the deeper needs of spiritual life.”<sup>78</sup> अर्थात् पाश्चात्य दर्शन बुद्धि-प्रेम है और भारतीय दर्शन आध्यात्मिक जीवन का शास्त्र है। चूँकि इसकी उत्पत्ति आध्यात्मिक असन्तोष से हुई है जबकि पाश्चात्य दर्शन की उत्पत्ति कौतुहल अथवा जिज्ञासा से हुई है।

जहाँ तक दोनों के बीच के सम्बन्ध का प्रश्न है, इसे तीन तरह से अथवा तीन दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है—

- (क) दोनों में समानता के दृष्टिकोण से,
- (ख) दोनों में अन्तर के दृष्टिकोण से और
- (ग) वास्तविक दृष्टिकोण से।

#### (क) समानता का दृष्टिकोण

दर्शन तथा विज्ञान में निम्नलिखित प्रमुख समानताएँ दृष्टिगत होती हैं—

1. दोनों की उत्पत्ति जिज्ञासा से होती है। मनुष्य स्वभाव से ही जिज्ञासु है। वह विश्व के प्रत्येक रहस्य को जानने के लिए सदैव व्यग्र रहता है। जब भी उसके सम्मुख कोई नवीन घटना घटती है तो उसका कारण जानने के लिए वह बेचैन हो जाता है। जीवन और जगत् के रहस्यों की व्याख्या करना ही दर्शन और विज्ञान का काम है।

2. दोनों का उद्देश्य अथवा लक्ष्य भी एक ही है। सत्य की खोज एवं विश्व की संगत व्याख्या प्रस्तुत करना ही दोनों का लक्ष्य है।

3. दोनों की विधि एक ही है। दोनों बौद्धिक (Rational or intellectual) पद्धति की सहायता से सत्य की व्याख्या करते हैं। दोनों ही



आगमन, निगमन, निरीक्षण, कल्पना आदि की सहायता लेते हैं। दोनों मनुष्य की आवश्यकता की पूर्ति करते हैं अर्थात् दोनों की जननी आवश्यकता ही है।

### (ख) विभिन्नता का दृष्टिकोण

दोनों के बीच समानताएँ अवश्य हैं किन्तु अन्तर भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। विचारकों ने दोनों के बीच निम्नलिखित अन्तर अथवा भेद की ओर इशारा किया है—

1. दर्शन और विज्ञान में मुख्य अन्तर विषय सम्बन्धी है। दर्शन सम्पूर्ण विश्व का अध्ययन करना चाहता है, किन्तु विज्ञान विश्व को खेमों में बाँटकर अध्ययन करना चाहता है। डॉ. मौलाना अब्दुल कलाम ने भी पूर्वीय और पश्चिमी दर्शनशास्त्र के इतिहास की भूमिका में एक पारसी कवि की कविता को दुहराते हुए कहा है कि “यह विश्व उस प्राचीन हस्तलिखित पुस्तक के समान है, जिसके प्रथम और अन्तिम दो पन्ने खो गये हैं। दर्शन उन्हीं दो खो गये पन्नों की खोज में आगे बढ़ता है। खासकर भारत में दर्शन कसरत नहीं बल्कि आध्यात्मिक मुक्ति दिलाने वाला शास्त्र है। एच.एम. भट्टाचार्य ने ठीक ही लिखा है कि “So Indian mind has viewed philosophy not as mere intellectual gymnastics but rather as a means to spiritual salvation.”<sup>79</sup> दर्शन मनुष्य का एक निष्पक्ष बौद्धिक प्रयत्न है, जिसके द्वारा वह विश्व को उसकी सम्पूर्णता में समझने की चेष्टा करता है। (Philosophy is an impartial pursuit of human beings by which they try to understand the universe in its wholeness) जबकि हरेक विज्ञान विश्व के किसी खास विभाग तक ही अपने को सीमित रखता है। उदाहरण के लिए भौतिक विज्ञान भौतिक जगत् तक ही अपने को सीमित रखता है। यह रसायनशास्त्र, जीव विज्ञान, मनोविज्ञान इत्यादि के क्षेत्रों में दखल नहीं देता है। इस तरह अध्ययन के क्रम में हम पाते हैं कि विज्ञान का क्षेत्र संकुचित है, किन्तु दर्शन का क्षेत्र व्यापक है।

कुछ विचारकों का यह मत है कि दर्शन केवल सभी विज्ञानों का योगफल है। परन्तु वास्तविकता यह है कि यह विज्ञान के द्वारा प्रस्तुत विचारों एवं तथ्यों की समीक्षात्मक दृष्टि से मूल्यांकन करता है।

2. विज्ञान का दृष्टिकोण विश्लेषणात्मक है जबकि दर्शन का दृष्टिकोण संश्लेषणात्मक है।
3. वैज्ञानिक व्याख्या कैसे का उत्तर देती है, क्यों का नहीं, किन्तु दर्शन क्यों का उत्तर देने की कोशिश करता है।

4. विज्ञान केवल अनुभवगम्य पदार्थों का अध्ययन करता है, किन्तु दर्शनशास्त्र दृश्य-जगत् के परे भी जाने का प्रयत्न करता है।
5. विज्ञान का दृष्टिकोण वस्तुवादी है, परन्तु दर्शनशास्त्र अमूर्त विषयों का मूल्यांकन भी करता है। डॉ. राधाकृष्णन् का कहना ठीक ही है कि "सभी विज्ञान कुछ वस्तुओं को मानकर चलते हैं लेकिन दर्शनशास्त्र बिना छानबीन के कुछ नहीं मानता है। जिसकी परीक्षा नहीं हो पायी है, उसकी परीक्षा भी दर्शनशास्त्र के लिए आवश्यक हो जाती है।"
6. विज्ञान प्रयोगात्मक है, परन्तु दर्शनशास्त्र विचारात्मक है।
7. विज्ञान पदार्थों की व्याख्या में केवल बौद्धिक पक्ष को सन्तुष्ट करता है, पर दर्शनशास्त्र सम्पूर्ण मनस को सन्तुष्ट करने की कोशिश करता है। विज्ञान को मात्र सत्यम् से वास्ता है पर दर्शनशास्त्र का सम्बन्ध सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् तीनों से है। प्लेटो आदि के दर्शनशास्त्र का अध्ययन करने पर यह और स्पष्ट हो जाता है।

#### (ग) दोनों के बीच वास्तविक सम्बन्ध

वास्तव में दर्शन एवं विज्ञान में कोई मौलिक विरोध नहीं है। ह्वाइटहेड ने ठीक ही बतलाया है कि "विज्ञान और दर्शन परस्पर एक-दूसरे की आलोचना करता है और एक-दूसरे को काल्पनिक सामग्री प्रदान करता है।" कुछ चिन्तकों ने तो विज्ञान को दर्शन की सन्तान बतलाया है। (The sciences are the children of the old mother philosophy.) प्रारम्भ में सभी विज्ञान दर्शन के ही अन्तर्गत थे। बाद में वे दर्शन से धीरे-धीरे पृथक् होते गये और अपना स्वतंत्र क्षेत्र बनाते गये। किन्तु वास्तव में दोनों बिल्कुल पृथक् नहीं हैं बल्कि दोनों के बीच परस्पर पूरक का सम्बन्ध है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र एवं मार्क्स के पूंजी आदि महत्त्वपूर्ण रचनाओं का अध्ययन करने से इस बात की सम्पुष्टि हो जाती है। मार्क्स ने दर्शन की सोच को वैज्ञानिक सोच की तरह ही दर्शाया है। इनके गुरु हिगेल ने भी वैज्ञानिक सोच को दर्शन के लिए आवश्यक बतलाया है। ईमाइल दुर्खीम का जन्म 1864ई. में फ्रांस के अन्तर्गत हुआ था। इन्होंने वैज्ञानिक नैतिकता को समाज की एकता का आधार प्रस्तावित किया है। नैतिकता ऐसा बड़ा दर्शन है, जो धर्म का स्थान ले सकता है, यह विज्ञान द्वारा संभव हो सकता है। इनका कहना है कि विज्ञान ने लोगों की आस्थाओं, विश्वासों और परम्पराओं के प्रति एक तार्किक प्रश्न चिह्न खड़ा कर दिया है। ईश्वर क्या है? कहां है? कैसा है? इन सब प्रश्नों का उत्तर या प्रमाण धर्म के पास नहीं है। धर्म का विशाल महल, उसके गगनचुम्बी कंगुरे विश्वास की भूमि पर खड़े हैं। धर्म और नैतिकता का अध्ययन दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत है, इसलिए जो बातें धर्म और नैतिकता के लिए की गई हैं, वे दर्शन पर भी लागू होंगी।

---

---

अध्याय-11  
दर्शन और धर्म

---

---

दर्शन शब्द का शाब्दिक अर्थ देखना होता है। दर्शनशास्त्र का मतलब जिसके द्वारा देखा जाए होता है। यानी सत्य का साक्षात् अनुभव प्राप्त करना ही दर्शनशास्त्र का उद्देश्य है। इसे अंग्रेजी में फिलॉसफी कहा जाता है। यह दो शब्दों के योग से बना है—Philo + Logos. Philo का अर्थ प्रेम और Logos का अर्थ ज्ञान होता है। एच.एम. भट्टाचार्य के शब्दों में “The world philosophy comes from the Greek words philo, love and sophia, wisdom. Socrates liked to be a philosopher, a humble lover of wisdom unlike the sophists, the wisemen.....”<sup>80</sup>

धर्म का अर्थ धारण करना होता है। जैसे आग का धर्म ताप है, मनुष्य का धर्म दया, करुणा और सहानुभूति है। अर्थात् मनुष्यत्व ही मनुष्य का धर्म है। धर्म को अंग्रेजी में Religion कहा जाता है। यह दो शब्दों के योग से बना है—Re+Legere. इसका अर्थ जोड़ना होता है। वाय मसीह के शब्दों में “The term 'religion' has been derived from the two words re and legere, which means 'to consider or to ponder'. Hence, it means that religion deals with an object on which an individual can ponder and meditate. But perhaps it is true to hold that it is derived from re and legere which mean 'binding'. According to this derivation religion means that which binds men together, individually and socially.”<sup>81</sup>

अतः यह व्यक्ति को व्यक्ति से और व्यक्ति को समाज से जोड़ने का काम करता है। जहां तक दर्शन और धर्म के बीच सम्बन्ध का प्रश्न है, दोनों के स्वरूप को जानने के पश्चात् ही स्पष्ट हो सकता है। धर्म के स्वरूप की जानकारी इसकी परिभाषा से मिल जाती है। गैलवे ने इसकी परिभाषा देते हुए कहा है कि “Religion is man's faith in power beyond himself whereby he seeks to satisfy emotional needs and gain stability of life, and which he expresses in acts of worship and service” यानी मनुष्य अपने को सीमित, असहाय एवं अपूर्ण पाता है, वह भौतिक साधनों द्वारा आध्यात्मिक लक्ष्य की पूर्ति नहीं कर पाता है। विज्ञान और वैज्ञानिक अनुसंधानों से भी उसकी चाह पूरी नहीं होती है।

अपने को असीम के प्रति पूर्ण निष्ठा एवं सर्वशक्तिमान बनाने की चाह हमेशा उसे सताती रहती है। इसी इच्छा अथवा चाह की पूर्ति के लिए वह धर्म का आश्रय लेता है। इसी प्रकार धर्म की उत्पत्ति होती है। इनके (धर्म के) कुछ सामान्य एवं विशिष्ट लक्षण होते हैं। इनके निम्नलिखित सामान्य लक्षण हैं—

(क) मनुष्य के असहाय, अपूर्ण एवं सीमित होने की भावना—मनुष्य अपने को अपूर्ण एवं असहाय पाकर अपने को पूर्ण एवं असीम बनाने के लिए व्यग्र हो उठता है। वह अपनी इस चाह की पूर्ति सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक,

सांस्कृति इत्यादि किसी भी साधन से नहीं कर पाता है। विज्ञान एवं तकनीकी विकास से उपलब्ध साधनों से भी इस मामले में अधिक सहायता नहीं मिल पाती है। वह विवश होकर एक ऐसी असीम, अभौतिक एवं आध्यात्मिक सत्ता में विश्वास करने लगता है, जिसके प्रसन्न होने से उसकी चाह की पूर्ति हो सकती है। वह उस सत्ता की आराधना प्रारम्भ कर देता है। फलस्वरूप धर्म का आविर्भाव होता है।

(ख) आध्यात्मिक मूल्य को चरम सत्य के रूप में लेना—सभी धर्म किसी—न—किसी आध्यात्मिक मूल्य को चरम सत्य मानते हैं। ईश्वर को मानना धर्म भावना के लिए आवश्यक नहीं माना जाता है। बौद्ध धर्म, जैन धर्म आदि ईश्वर को न मानने पर भी उच्च कोटि के धर्म समझे जाते हैं। सभी धर्म, चाहे वे ईश्वरवादी हों या अनीश्वरवादी हों, आध्यात्मिक मूल्य में विश्वास रखते हैं। फिर भी इतना बतला देना उचित प्रतीत होता है कि अधिकांश धर्मों में ईश्वर को चरम सत्य माना गया है। श्रीमद्भगवद् गीता के तेरहवें अध्याय के ग्यारहवें श्लोक में तो बतलाया गया है कि “अध्यात्म ज्ञान नित्यत्वं तत्त्व ज्ञानार्थदर्शनम् एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।।” अर्थात् Fixity in self-knowledge and seeing God as the object to true knowledge all this is declared as knowledge, and what is another than this is called ignorance. सुकरात एवं प्लेटो ने भी लगभग इन्हीं बातों को अपने ढंग से बतलाया है। इन्होंने भी वर्ल्ड ऑफ आइडियाज के ज्ञान को ही वास्तविक ज्ञान माना है।

(ग) धर्म का उद्देश्य व्यावहारिक है—भौतिक सुख तो नाशवान है पर आध्यात्मिक सुख का आनन्द शाश्वत है। धर्म का यह लक्ष्य या तो धर्माचरण करने से पूर्ण हो सकता है अथवा ईश्वर का साक्षात्कार करने से।

(घ) धार्मिक चेतना का विषय सम्पूर्ण विश्व है—दर्शन की भांति ही धर्म भी सम्पूर्ण विश्व की व्याख्या करना चाहता है। इसके लिए वह आध्यात्मिक मूल्यों की वास्तविक उपलब्धि का प्रयत्न करता है।

(ङ) आराधक और आराध्य के बीच अटूट सम्बन्ध का रहना—प्रत्येक धर्म में यह विश्वास पाया जाता है कि आराधक और आराध्य में घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। आराधक को पूर्ण विश्वास रहता है कि उसका आराध्य उसकी आवश्यकता पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करेगा और उसकी चाह की पूर्ति हो जायेगी। कभी आराध्य और आराधक की घनिष्ठता इतनी बढ़ जाती है कि दोनों का द्वैत समाप्त हो जाता है और दोनों एक हो जाते हैं। इसका ज्वलन्त उदाहरण वेदान्त धर्म में मिलता है। कबीरदास एवं गोस्वामी तुलसीदास ने भी इस बात की सम्पुष्टि की है। कबीर की ‘मैं भी हो गई लाल’, तुलसी की ‘जानहिं तुमहि, तुमहि हो जाई’, ब्रह्मसूत्र का ‘ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति’ की अवधारणा इसका ज्वलन्त उदाहरण है। रामानुज ने वही होना नहीं मानते बल्कि उनके सदृश्य होना मानते हैं। इस धर्म का स्वरूप देख लेने के बाद अब दर्शन के स्वरूप परविचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। उपर्युक्त विवेचनों में दर्शन शब्द का

अर्थ प्राच्य और पाश्चात्य दोनों दृष्टियों से संकेत के रूप में किया जा चुका है। यहां इतना बतला देना आवश्यक प्रतीत होता है कि दर्शन के सामान्य लक्षण कौन-कौन से हैं? दार्शनिकों ने निम्नलिखित प्रमुख लक्षणों की चर्चा की है—

(क) दर्शन सम्पूर्ण विश्व की सुव्यवस्थित और युक्तिसंगत व्याख्या प्रस्तुत करने की कोशिश करता है।

(ख) दार्शनिक चिन्तन की उत्पत्ति बौद्धिक जिज्ञासा से होती है।

(ग) दार्शनिक चिन्तन निष्पक्ष होता है। दार्शनिक अपने मनोवेगों एवं संवेगों का प्रभाव दर्शन पर नहीं पड़ने देता है। उसके चिन्तन में किसी तरह के पक्षपात की बू नहीं दीख पड़ती है। उसे तो निष्पक्ष होकर सत्यान्वेषण करना पड़ता है। निष्पक्ष चिन्तन ही उच्च कोटि का दर्शन माना जाता है।

(घ) दार्शनिक चिन्तन में व्यावहारिक पक्ष की अपेक्षा सैद्धान्तिक पक्ष पर अधिक जोर दिया जाता है।

(ङ) दर्शन में आराध्य और आराधक अथवा उपास्य एवं उपासक का प्रश्न नहीं उठता है क्योंकि इसमें किसी की पूजा की बात न होकर सत्य का साक्षात् अनुभव प्राप्त करना ही मुख्य लक्ष्य रहता है। इसमें गुणारोपण का निषेध करना भी मान्य है किन्तु धर्म में अक्सर गुण का आरोपण किया जाता रहा है।

जहां तक दोनों में (दर्शन और धर्म में) सम्बन्ध का प्रश्न है धर्म और दर्शन के बीच समानता, विभिन्नता एवं इनके वास्तविक सम्बन्ध पर विचार करना उचित प्रतीत होता है। इन समस्याओं पर पाश्चात्य और प्राच्य दोनों दृष्टिकोण से विचार करना आवश्यक जान पड़ता है।

पाश्चात्य दृष्टिकोण—दर्शन और धर्म में समानता—दर्शन एवं धर्म दोनों समग्र विश्व की व्याख्या करने का प्रयत्न करते हैं।

दोनों की विषय-वस्तु एक ही है। इस सम्पूर्ण विश्व के अध्ययन के अन्तर्गत सभी तरह के अनुभव एवं सभी प्रकार के ज्ञान—विज्ञान अन्तर्निहित हैं। धर्मशास्त्र भी एक प्रकार का ज्ञान ही है। अतः दर्शन समग्र विश्व का अध्ययन करने के समय धर्म का भी अध्ययन कर लेता है।

दोनों में दूसरी समानता यह है कि दोनों में ही तत्त्व—सम्बन्धी विवेचना होती है। दोनों का ही लक्ष्य चरम सत्यता अथवा वास्तविकता की खोज करना है।

**अन्तर—**दर्शन और धर्म में उपर्युक्त समानताओं के साथ-साथ कुछ मौलिक अन्तर भी हैं। ये अन्तर निम्नलिखित हैं—

(क) उत्पत्ति में भेद—दर्शन की उत्पत्ति जिज्ञासा से होती है किन्तु धर्म की उत्पत्ति आध्यात्मिक असंतोष (Spiritual Hunger or Dissatisfaction) से होती है।

(ख) उद्देश्य में भेद—दोनों के उद्देश्य भी भिन्न हैं। दर्शन का उद्देश्य सम्पूर्ण विश्व की व्याख्या करना है, पर धर्म का उद्देश्य आध्यात्मिक मूल्यों की वास्तविक सिद्धि है।

(ग) दृष्टिकोण में अन्तर-दर्शन का दृष्टिकोण सैद्धान्तिक है परन्तु धर्म का दृष्टिकोण व्यावहारिक है।

(घ) पद्धति में अन्तर-दर्शन की पद्धति बौद्धिक है किन्तु धर्म, विश्वास, श्रद्धा एवं अन्तःकरण अथवा अन्तर्भूति की सहायता लेता है। हॉब्स ने भी माना है कि दर्शन एक बौद्धिक मीमांसा है।<sup>82</sup>

(ङ) प्रवृत्ति में अन्तर-दर्शन बौद्धिक है परन्तु धर्म रागात्मक है।

(च) उपयोगिता में फर्क-धर्म मनुष्य की बौद्धिक, भावात्मक एवं क्रियात्मक सभी तरह की जरूरतों की पूर्ति करना चाहता है। दर्शन मनुष्य के मात्र बौद्धिक पक्षों को संतुष्ट कर पाता है।

(छ) धर्म के विस्तार में अन्तर दर्शन का क्षेत्र धर्म की तुलना में अधिक बड़ा है। यदि दोनों में व्यापक और व्याप्य का अन्तर है।

(ज) आराध्य और आराधक के सम्बन्ध को लेकर अन्तर-धर्म में आराधक और आराध्य के बीच अटूट सम्बन्ध रहता है किन्तु इस प्रकार का सम्बन्ध दर्शन में नहीं रहता है।

दर्शन और धर्म में वास्तविक सम्बन्ध-विश्व इतिहास के अधिकांश धर्म एवं दर्शन के बीच युद्ध से रक्त रंजित दिख पड़ते हैं। किन्तु भारत में दर्शन एवं धर्म के बीच विरोध का सम्बन्ध नहीं है। यहां दोनों के बीच परस्पर पूरक का सम्बन्ध है। दोनों में अविच्छेद सम्बन्धों को प्राचीन, मध्य एवं आधुनिक दार्शनिकों ने भी स्वीकार किया है।

दरअसल धर्म का दार्शनिक विवेचन होना धर्म की प्रगति के लिए आवश्यक है। दार्शनिक विवेचन के अभाव में धार्मिक प्रगति रुक जाती है और उसका अन्त रूढ़िवाद में होता है।

अतः धर्म के लिए दार्शनिक समीक्षा जरूरी है।

कुछ लोग धर्म को दर्शन से पूर्ण स्वतंत्र रखने के पक्ष में हैं। इनके अनुसार दार्शनिक समीक्षा धर्म के लिए घातक है। किन्तु गम्भीरता से विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि यह धारणा निराधार है। यहां बेकन का कथन उपयुक्त जंचता है कि "It is true that a little philosophy inclineth man's mind to Atheism, but depth in philosophy bringeth man's mind to religions."

धर्म दर्शन की मदद करता है। जिस प्रकार विज्ञान दर्शन को विषय-वस्तु देता है, उसी प्रकार धर्म भी दर्शन के लिए उपादान उपस्थित करता है। धार्मिक उपादान धार्मिक विवेचन के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

धर्म दार्शनिक ज्ञान को व्यावहारिक रूप देता है। दर्शन परम सत्य का ज्ञान प्राप्त करा सकता है। किन्तु इस ज्ञान को जीवन में कार्यान्वित करने का श्रेय धर्म को ही प्राप्त है। Bahm महोदय ने ठीक ही कहा है कि "It philosophy is thought and Religion is action then one's religion is one's philosophy inaction."

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि धर्म और दर्शन में कोई मौलिक विरोध नहीं है। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं।

**भारतीय मत**—भारतीय परम्परा में दर्शन और धर्म सदैव साथ-साथ चलते हैं। उदाहरण के लिए बौद्ध दर्शन और बौद्ध धर्म, जैन दर्शन और जैन धर्म, वेदान्त दर्शन और वेदान्त धर्म आदि।

इस प्रकार पाश्चात्य और भारतीय दोनों दृष्टिकोण से दर्शन और धर्म परम्परा विरोधी नहीं, बल्कि पूरक हैं। अतः हॉब्स का यह कहना कि दर्शन इतिहास, धर्मशास्त्र और विज्ञान से बिल्कुल भिन्न होता है।<sup>83</sup> उचित नहीं है। हॉब्स यह कहना भी अनुपयुक्त है कि धर्म अंधविश्वास, हास्य एवं सहानुभूति अपेक्षाकृत अधिक कोमल भाव है। हॉब्स क अनुसार अदृश्य शक्ति के प्रति भय, यदि सार्वजनिक रूप से स्वीकृत हो, तो धर्म कहलाता है। यदि स्वीकृत न हो तो अंधविश्वास कहलाता है।<sup>84</sup> तब तो सुकरात और ईसामसीह को क्या कहेंगे? क्योंकि विषपान और सूली पर लटकने के पश्चात् अधिकांश लोगों की स्वीकृति मिली है। जीवनकाल में तो अधिकांश खिलाफ ही थे। इसलिए धर्म को मात्र सार्वजनिक स्वीकृति मानना उचित नहीं है। कोई माने या न माने गुण को गुणी से अलग नहीं किया जा सकता है। इसी तरह धर्म या मनुष्यत्व से मानव को च्युत नहीं किया जा सकता है और दर्शन उसके विपरीत नहीं बल्कि पूरक है। अन्तश्चेतना, अन्तर्बोध और आन्तरिक चक्षु या ज्ञान चक्षु दोनों के लिए समान रूप से आवश्यक है इसलिए नितान्त भिन्न कहना सर्वथा अनुचित है। बेंथम का यह कहना भी उपयुक्त नहीं है कि सभीकार्यों की अच्छाई और बुराई की एकमात्र कसौटी उपयोगिता का सिद्धान्त है।<sup>85</sup> दरअसल अन्तरात्मा ही अच्छे और बुरे कार्यों की निर्णायक और मार्गदर्शक है। सम्राट अशोक के जीवन में धर्म ने महान् परिवर्तन ला दिया। बौद्ध होने पर उसमें प्राचीन शर-विजय के बदले धर्म-विजय (या धर्माचरण से विजय) की नीति को चलाया। अशोक ने स्वयं कहा है कि “धर्म-विजय की उसकी नीति ने आचर्यजनक सफलता पायी और उसने अपने पड़ोसी यूनानी, तमिल और अन्य राज्यों को आध्यात्मिक के रूप से जीत लेने का दावा किया।”

धर्म आचरण की संहिता है, जिसके माध्यम से व्यक्ति समाज के सदस्य के रूप में और एक व्यक्तित्व के रूप में नियंत्रित होता हुआ क्रमशः विकसित होता है और अन्त में चरम उद्देश्य की प्राप्ति करता है। इसीलिये महाभारत के कर्णपर्व में बतलाया गया है कि धारणाद्धर्ममिव्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः। यत्स्याद् धारणसंयुक्त स धर्म इति निश्चयः।। डॉ. जयशंकर मिश्र ने भी अपनी पुस्तक प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास में बतलाया है कि “आचरणगत नियमों का संग्रह ही धर्म है, जिसके तीन मूल कार्य हैं—1. नियंत्रण, 2. व्यक्तित्व का उत्थान और 3. जीवन के अन्तिम लक्ष्य ‘मोक्ष’ के लिए व्यक्ति को सन्नद्ध करना।” यह चार्वाक को छोड़कर सभी दार्शनिकों को मान्य है। मनुष्य का कर्त्तव्य कार्य और स्वभाव धर्म से संचालित होता है।<sup>86</sup> दर्शनशास्त्र में भी युक्तिपूर्वक इसकी



विवेचना की गई है अर्थात् भारत में दर्शन और धर्म साथ-साथ रहे हैं। सामान्य धर्म के 30 लक्षण बतलाये गये हैं—सत्य, तप, सुचिता, दया, कष्ट-सहिष्णुता, नीर-क्षीर विवेक, मन पर नियंत्रण, इन्द्रिय संयम, ब्रह्मचर्य, त्याग, अहिंसा, स्वाध्याय, संतोष, सरलता, सम्यक् दृष्टि, सेवा क्रमशः सांसारिक त्याग, लौकिक सुख के प्रति उदासीनता, मौनव्रत, आत्म-चिन्तन, सभी प्राणियों में अपने आराध्य का दर्शन और उन्हें अन्न देना।<sup>87</sup> यह चार्वाक को छोड़कर सभी भारतीय दार्शनिकों को मान्य है। धम्मपद, तत्त्वार्थसूत्र, ब्रह्मसूत्र, श्रीमद्भगवद्गीता आदि में भी इसकी विशद् विवेचना की गई है।

---

---

अध्याय-12  
अनुभववाद

---

---

आधुनिक दर्शन को दो भागों में विभक्त किया गया है—बुद्धिवादी एवं अनुभववादी। बुद्धिवादियों ने बुद्धि को ज्ञान का प्राथमिक स्रोत माना है और अनुभववादियों ने अनुभव को ही ज्ञान का प्राथमिक स्रोत बतलाया है। जहां तक अनुभववाद का प्रश्न है, यह जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट हो जाता है कि अनुभव को समस्त ज्ञान का स्रोत मानता है। इसके अनुसार मनुष्य को ज्ञान उसकी विभिन्न इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त संवेदनाओं के कारण होता है। अनुभववादियों के अनुसार हमारे मन में जितने भी प्रत्यय हैं, वे सभी अनुभव से प्राप्त हुए हैं। लॉक ने स्वयं कहा है कि "Mind at birth is a clean slate or 'tabula rasa' and all the characteristics of knowledge are acquired through experience." इस सम्बन्ध में सी.ई.एम. जोड ने ठीक ही लिखा है कि "Philosophy provides us roughly with two main historical answers to the question of how we obtain knowledge. The first is that knowledge is in fact obtained entirely in and through the sense experience."<sup>88</sup> स्पष्ट है कि अनुभववादियों की दृष्टि में अनुभव ही ज्ञान प्राप्ति का साधन है। इन्होंने बुद्धिवाद के जन्मजात प्रत्ययों की धारणा का घोर विरोध किया है। इनका कहना है कि यदि ईश्वर, आत्मा, कार्य—कारण—नियमों के जन्मजात प्रत्यय हमारे मन में जन्म से ही होते तो चेतन मन को उनका ज्ञान रहना चाहिए था। किन्तु अनुभव इस बात का साक्षी है कि ऐसे जन्मजात प्रत्ययों की चेतना जन्म से ही किसी को नहीं रहती है। जितने प्रकार के प्रत्यय हैं, वे सभी अनुभव से प्राप्त हुए हैं। ज्ञान का कोई भी अंश अनुभव निरपेक्ष नहीं है। अनुभव के पूर्व मस्तिष्क साफ कागज अथवा कोरी स्लैट के सदृश्य रहता है। अनुभव के द्वारा ही इसमें विचार अंकित होते हैं।

जहां बुद्धिवादियों ने बुद्धि को सक्रिय कहा है, वहां अनुभववादियों ने बुद्धि को निष्क्रिय माना है। इस सिद्धान्त के मुताबिक ज्ञान निर्णयों की समष्टि है। प्रत्ययों को एकत्रित अथवा संग्रहित करने पर ही निर्णय बनते हैं। इसलिए ज्ञान के आदि तत्त्व प्रत्यय ही हैं। इन प्रत्ययों की उत्पत्ति अनुभव से होती है। मन या बुद्धि प्रत्ययों को सिर्फ ग्रहण करते हैं। इसीलिए मन अथवा बुद्धि को निष्क्रिय माना गया है।

बुद्धिवादियों की दृष्टि में निगमनात्मक पद्धति ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है जबकि अनुभववादियों का कहना है कि आगमन विधि ही कारगर ठहरती है। इसीलिए इन्होंने ज्ञान प्राप्ति के लिए आगमनात्मक विधि की ही सहायता ली है। अनुभव से विशेषों की जानकारी होती है। विशेषों के ज्ञान के आधार पर आगमनात्मक विधि के द्वारा सामान्य ज्ञान मिलता है। इसीलिए अनुभववादियों ने आगमनात्मक विधि को अपनाया है।

बुद्धिवाद गणित विज्ञान को दर्शन का आदर्श मानता है, परन्तु अनुभववाद वस्तुनिष्ठ विज्ञान को ही आदर्श स्वीकार करता है। गणित धारणात्मक है। इसके विषय में वस्तुसंवादी होने का कोई सवाल नहीं उठता है।

वस्तुनिष्ठ विज्ञानों के निष्कर्ष हमेशा वस्तुसंवादी होते हैं। यही कारण है कि अनुभवजन्य ज्ञान वस्तुसंवादी होता है।

अनुभव से प्राप्त ज्ञान भले ही सार्वभौम और अनिवार्य नहीं होता है किन्तु इसमें नवीनता का गुण रहता है। ज्ञान के लिए नवीनता आवश्यक है। अनुभवजन्य ज्ञान वास्तविक वस्तुओं के विषय में होता है। इस तरह का ज्ञान सार्वभौम एवं अनिवार्य नहीं हो सकता है चूंकि भूत, वर्तमान और भविष्य का अनुभव संभव नहीं है। इससे सार्वकालिक ज्ञान संभव नहीं है। इसीलिए विद्वानों का कहना है कि अनुभवजन्य ज्ञान संभाव्य होता है। इसे पूर्ण निश्चित नहीं कहा जा सकता है। अनुभव के स्वरूप के सम्बन्ध में अनुभववादियों के बीच मत वैभिन्नता है। कुछ विचारकों ने ऐन्द्रिय या बाह्य अनुभव को ज्ञान का साधन माना है। इनके सिद्धान्त अथवा मत को संवेदनवाद कहा जाता है। कुछ विचारकों ने ऐन्द्रिय एवं आन्तरिक अथवा मानसिक दोनों प्रकार के अनुभव को ज्ञान का साधन माना है। अतः दोनों में मतान्तर है। फिर भी सभी अनुभववादियों ने एक स्वर में स्वीकार किया है कि अनुभव ही ज्ञान का उद्गम (स्रोत) है। सभी ने निरीक्षण की महत्ता को स्वीकार किया है। निरीक्षण या इन्द्रियानुभव ही सभी प्रकार के ज्ञान का आधार है। सी.ई.एम. जोड ने ठीक ही लिखा है कि—“Observation alone can inform us of the nature of what exists. Those who have insisted that observation or sense experience is the basis of all knowledge are known as empirical philosophers or as empiricists from the Greek word EUTTEIPIA, which means experience.”<sup>89</sup>

जहां तक इसके ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का प्रश्न है, अनुभववाद उतना ही पुराना है, जितना कि दर्शनशास्त्र। यह अत्यन्त ही प्राचीन काल से चला आ रहा है। प्राचीन काल में प्रोटागोरस, जेनो आदि इसके समर्थक बतलाये जाते हैं। प्रोटागोरस यूनान के अनुभववादी दार्शनिक हैं। इन्होंने सोफिस्ट सम्प्रदाय की स्थापना की है। इनके अनुसार सिर्फ ऐन्द्रिय अनुभव या संवेदन ही यथार्थ ज्ञान प्राप्ति का साधन है। इसीलिए इन्हें संवेदनवादी भी कहा जाता है। स्टोइक सम्प्रदाय (Stoic School) भी अनुभववादी है। इस सम्प्रदाय के संस्थापक के रूप में जेनो को याद किया जाता है। इनके (जेनो के) मुताबिक ऐन्द्रिय अनुभव ही ज्ञान का साधन है।

आधुनिक पाश्चात्य अनुभववादी दार्शनिकों में लॉक, बर्कले और ह्यूम को याद किया जाता है। सी.ई.एम. जोड ने भी लिखा है कि “The English philosophers Locke, Berkeley and Hume are prominent exponents of the empirical school.”<sup>90</sup> हालांकि अनुभववाद की जड़ें बेकन और हॉब्स की रचनाओं में भी दृष्टिगत होती हैं। इसीलिए कुछ विद्वानों ने बेकन और हॉब्स को भी अनुभववाद का प्रबल समर्थक बतलाया है। इन विचारकों ने नामवादी

परम्परा को आगे बढ़ाया है और अनुभववाद का पूर्ण विकास लॉक बर्कले तथा ह्यूम के विचारों में पाते हैं।

लॉक के अनुसार ज्ञान के विषय प्रत्यय हैं। प्रत्ययों के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की जानकारी हमें नहीं होती है। लॉक ने प्रत्ययों को दो भागों में बांटा है—सरल और जटिल। जटिल प्रत्यय सरल प्रत्ययों के योग से ही निर्मित होते हैं। इसलिए सरल प्रत्यय ही ज्ञान के प्रारम्भिक निर्णायक तत्त्व हैं। सरल प्रत्ययों का ज्ञान सिर्फ अनुभव के द्वारा होता है। जहां तक बुद्धि का प्रश्न है, लॉक का कहना है कि बुद्धि अनुभव के द्वारा प्राप्त प्रत्ययों को निष्क्रिय रूप से ग्रहण करती है।

इन्होंने (लॉक ने) दो प्रकार के अनुभव को स्वीकार किया है—संवेदन और अन्तःप्रेक्षण। संवेदन इन्द्रियों से ही संभव हो पाते हैं और वे बाह्य वस्तुओं के गुणों को व्यक्त करते हैं। अन्तःप्रेक्षण आन्तरिक निरीक्षण के रूप में जाना जाता है। इससे संकल्प, विचार इत्यादि मनोदशाओं अथवा मनःस्थितियों की अभिव्यक्ति होती है। मन के अन्तर्गत जितने भी प्रत्यय हैं, वे सभी संवेदन अथवा अन्तःप्रेक्षण द्वारा प्राप्त हुए हैं। अतः सब कुछ अर्जित है। ऐसी कोई भी चीज नहीं है जो पूर्व से ही इन्द्रियों में निहित न थी। लॉक ने स्वयं कहा है कि “There is nothing in the intellect which was not previously given in the senses.”

इन्होंने ज्ञान-प्रक्रिया में तीन तत्त्वों को स्वीकार किया है—(1) अनुभवकर्ता अथवा विषयी, (2) वस्तु या विषय और (3) प्रत्यय। अनुभवकर्ता वस्तुओं की जानकारी प्रत्ययों से प्राप्त करता है। यानी ज्ञान वस्तुओं का होता है। ज्ञान प्राप्त करने वाला अनुभवकर्ता कहलाता है और ज्ञान का माध्यम प्रत्यय है।

बर्कले-इन्होंने द्रव्य की सत्ता का निषेध किया है। इसके कारण इन्हें बहुत ही ख्याति मिली है। इनका कहना है कि भौतिक वस्तुएँ अनुभवकर्ता पर ही निर्भर करती हैं। रसेल ने ठीक ही लिखा है कि “George Berkeley (1685-1753) is important in philosophy through his denial of the existence of matter—a denial which he supported by a number of ingenious arguments. He maintained that material objects only exist through being perceived.”<sup>91</sup> इस तरह इनके दर्शन में कहीं लॉक से भी अधिक संगत अनुभववाद दृष्टिगत होता है। लॉक की आलोचना करते हुए इन्होंने बतलाया है कि अनुभव मात्र को प्रमाण मानने पर किसी अनानुभूत पदार्थ की सत्ता को स्वीकार करना असंगत सिद्ध होता है। लॉक ने द्रव्य की सत्ता को स्वीकार कर लिया है। इसके लिए उन्होंने अनुमान का सहारा लिया है। दूसरी गलती गुणों के विभाजन में किया है। उन्होंने मुख्य गुणों को अनुभव निरपेक्ष बतलाया है और गौण गुणों को अनुभव सापेक्ष बतलाया है और गौण गुणों को अनुभवकर्ता पर निर्भर बतलाया है। बर्कले की दृष्टि में गौण गुण और प्राथमिक गुण दोनों ही अनुभवकर्ता पर निर्भर करते हैं। इनका कहना है कि भौतिक

वस्तुएँ सत्य नहीं हैं चूँकि वह अनुभवजन्य नहीं है। अतः सभी पदार्थ गुणों की समष्टि मात्र है। इनका कहना है कि सभी गुण अनुभव पर निर्भर हैं। इसलिए सभी पदार्थ अनुभवाश्रित हैं। इस तथ्य को बर्कले ने अपनी प्रसिद्ध उक्ति *Esse est percipii* द्वारा स्पष्ट किया है। इसका अर्थ ही होता है कि वस्तुओं का अस्तित्व अनुभवकर्ता पर निर्भर है। बर्कले ने सिर्फ आत्मा और ईश्वर द्रव्य को स्वीकार किया है। ईश्वर के कारण ही उन्होंने बाद में चलकर एसे इस्ट परसीपी की जगह कॉनसीपी शब्द का प्रयोग किया है।

ह्यूम—बर्कले ने लॉक के दर्शन को विकसित किया है किन्तु ह्यूम ने लॉक और बर्कले दोनों को संगत बनाने की कोशिश की है। इनसे आगे बढ़ना संभव नहीं है। इसीलिए रसेल ने लिखा है कि “David Hume (1711-1776) is one of the most important among philosophers, because he developed to its logical conclusion, the empirical philosophy of Locke and Berkeley, and by making it self-consistent made it incredible. He represents, in a certain sense, a dead end in his direction, it is impossible to go further.”<sup>92</sup> अतः लॉक आदि ने जिस अनुभववाद की पुष्टि की है, ह्यूम ने उसे पराकाष्ठा पर पहुंचा दिया है। इनका कहना है कि जिस प्रकार भौतिक द्रव्यों को अनुभवगम्य नहीं होने के कारण बहिष्कृत किया गया है, उसी तरह आत्मा एवं ईश्वर की सत्ता का भी बहिष्कार किया जा सकता है। फ्रेडरिक मेयर ने ठीक ही लिखा है कि “David Hume came along and boldly declared that we can accept neither the material nor the spiritual substance nor can we prove the existence of god.” ह्यूम की दृष्टि में केवल प्रत्यय ही यथार्थ हैं। प्रत्यय के अतिरिक्त किसी भी सत्ता को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इसीलिए इनके मत को सर्वाहवाद भी कहा जाता है। इनकी मुख्य दार्शनिक रचना ‘द हिस्ट्री ऑफ ह्यूमन नेचर एवं अन्य रचनाओं के अध्ययन से यह और स्पष्ट हो जाता है।

इन्होंने अनुभव के दो अंगों को स्वीकार किया है—संवेदन और प्रत्यय। संवेदन भी दो तरह के होते हैं—बाह्य और आन्तरिक। संवेदन की अपेक्षा प्रत्यय कम तीव्र होते हैं। प्रत्यय संवेदनों की प्रतिलिपि हैं। इसीलिए प्रत्यय संवेदनों से निर्बल एवं कम स्पष्ट होते हैं। संवेदन प्रत्यय की तुलना में अधिक स्पष्ट और तीव्र होते हैं।

ह्यूम ने स्वीकार किया है कि सार्वभौम और अनिवार्य ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता है। इसलिए हमें संभाव्य ज्ञान पर ही भरोसा करना पड़ेगा। यही कारण है कि इन्हें संदेहवादी कहा जाता है। ह्यूम का कहना है कि यदि हम अपनी बुद्धि या समझ पर भरोसा रखें तो संदेहवाद अनिवार्य रीति से हमें ग्रहण करना पड़ेगा। इसका मतलब यह नहीं कि ह्यूम वस्तुतः संदेहवादी हैं। वास्तव में ह्यूम प्रत्यक्षवादी अर्थात् अनुभववादी हैं। गणित विज्ञान के विषय में इन्हें संदेहवादी कहना अनुपयुक्त सिद्ध होगा। इन्होंने स्वीकार किया है कि

गणित में सार्वभौम ज्ञान संभव है। अतः इन्हें संदेहवादीन कहकर आभासवादी, प्रत्यक्षवादी और अनुभववादी मानना चाहिए।

समीक्षा-अनुभववादियों ने बुद्धि का निषेध कर अपने को एकांगी और हठधर्मी बना लिया है। यह सही है कि अनुभव ज्ञान प्राप्ति का एक मुख्य उपाय है, परन्तु इसे ही एकमात्र साधन मानना और बुद्धि को टुकराना अनुचित है।

इन्होंने ऐन्द्रिय अनुभव को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया है। वस्तुतः अनुभव के अन्तर्गत ऐन्द्रिय और अनैन्द्रिय दोनों तरह के अनुभवों का समान महत्त्व है। आलोचकों ने इनके सिद्धान्त को आत्मघातक सिद्ध किया है। अनुभववाद के मुताबिक सत्य वही हो सकता है, जिसका इन्द्रियानुभव संभव हो। इसलिए अनुभववाद स्वयं अनुभवगम्य नहीं होने के कारण असत्य एवं मिथ्यासिद्ध हो जाता है।

अनुभववादियों ने स्वयं स्वीकार किया है कि उनका ज्ञान निश्चित नहीं है तो स्पष्ट ही है कि उनका सिद्धान्त (अनुभववाद) निश्चित न होकर मात्र संभाव्य सिद्ध होता है। इसके आधार पर कुछ निश्चित नहीं किया जा सकता है।

अनुभववादियों ने मन को निष्क्रिय मानकर भूल की है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि छोटी-से-छोटी क्रिया में भी मन की सक्रियता रहती है। संवेदन में भी मन की क्रियाशीलता रहती है।

ह्यूम के दर्शन से तीन परिणाम निकलते हैं—(क) सर्वाहंवाद, (ख) मनोवैज्ञानिक परमाणुवाद और (ग) संदेहवाद। ये तीनों अग्राह्य एवं दोषपूर्ण हैं।

उपर्युक्त विवेचनों से जाहिर हो जाता है कि अनुभववाद बुद्धिवाद के बिना एकांगी एवं संकीर्ण है। ज्ञान के लिए बुद्धि और अनुभव दोनों महत्त्वपूर्ण हैं।

इसलिये बी. रसेल ने इनकी अनुभववादी सोच की सीमा एवं इनकी भूल को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "Infact, in the later portion of the Treatise, Hume forgets all about his fundamental doubts and writes much as any other enlightened moralist of his time might have written; he applies to his doubts the remedy that he recommends, namely "carelessness and inattention". In a sense, his scepticism is insincere, since he cannot maintain it in practice."<sup>93</sup> अतः इनकी क्रिया और ज्ञान एक नहीं हो पाया इसीलिए इनके दर्शन पर संदेहवाद का आरोप लगाया गया है।

---

---

अध्याय-13

बुद्धिवाद

---

---



बुद्धिवाद शब्द का प्रयोग साधारणतः एक ऐसे व्यापक अर्थ में किया जाता है, जो जीवन और जगत् को समझाने एवं उसकी व्याख्या करने में मनुष्य की बुद्धि को सर्वोपरि महत्त्व देता है। मानवीय संस्कृति के इतिहास में यह दृष्टिकोण समय-समय पर व्यक्त होता रहा है। प्राचीन भारत में चार्वाक और उसके अनुचरों की आस्था इसी तरह के दर्शन में थी। प्राचीन ग्रीक और रोम में बहुत सारे दार्शनिक बुद्धिवादी रहे हैं। पाश्चात्य दर्शन में 'बुद्धिवाद' शब्द एक विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है। इस मत के अनुसार बुद्धि रहस्य की खोज कर सकने में स्वतः ही समर्थ है। यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति बुद्धि से ही होती है। केवल इन्द्रिय प्रत्यक्ष से संगत और सार्विक या यथार्थ ज्ञान उपलब्ध नहीं हो सकता है।

उपर्युक्त विवेचनों से जाहिर हो जाता है कि बुद्धिवाद एक ऐसा ज्ञान शास्त्रीय सिद्धान्त है जिसके अनुसार वास्तविक और सत्य ज्ञान की प्राप्ति बुद्धि के द्वारा ही संभव हो सकती है, किसी दूसरे साधन से नहीं। इस सिद्धान्त के मुताबिक यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति का एकमात्र साधन बुद्धि है। इस सन्दर्भ में दो प्रश्न सहज ही उठ जाते हैं कि—1. यथार्थ ज्ञान क्या है और बुद्धि का स्वरूप क्या है?

बुद्धिवादियों के अनुसार यथार्थ ज्ञान वह है, जो सार्वभौम तथा अनिवार्य हो। सार्वभौमिक होने का अर्थ है जो सभी देश, काल एवं परिस्थिति की वस्तुओं पर लागू हो। अनिवार्य होने का अर्थ है जिसमें अपवाद न हो।

इसकी सामान्य विशेषताएँ—

1. इस सिद्धान्त के मुताबिक बुद्धि ज्ञानप्राप्ति का एकमात्र साधन है। अनुभव यानी इन्द्रियों के द्वारा यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

2. यह जन्मजात प्रत्ययों (Intuitive ideas) की सत्ता को स्वीकार करता है। जन्मजात प्रत्यय को सहज प्रत्यय भी कहा जाता है। यह प्रत्यय मनुष्य के मस्तिष्क में जन्म से ही विद्यमान रहता है। इन्हें इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता है। इसे सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं है, चूंकि स्वयंसिद्ध है। सभी ज्ञान इन्हीं प्रत्ययों में अव्यक्त रूप में विद्यमान रहते हैं। बुद्धिवादियों के अनुसार इन्हीं सहज प्रत्ययों को विकसित करके बुद्धि हमें यथार्थ ज्ञान देती है। इसीलिए बुद्धिवाद सहज ज्ञानवाद अथवा अनुभव निरपेक्षवाद भी कहलाता है।

3. इस सिद्धान्त के मुताबिक मानव मस्तिष्क सदैव सक्रिय रहता है। यह विचार जॉन लॉक के मत से सर्वथा भिन्न है। लॉक के मुताबिक मस्तिष्क हमेशा निष्क्रिय रहता है। बुद्धिवाद के अनुसार मस्तिष्क निष्क्रिय नहीं बल्कि सक्रिय होकर सहज प्रत्ययों को व्यवस्थित करके हमें वास्तविक ज्ञान दिलाने में समर्थ होता है।

4. जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है कि इस सिद्धान्त के मुताबिक यथार्थ ज्ञान वह ज्ञान है, जो सार्वभौम एवं अनिवार्य हो। बुद्धिवादियों का कहना है कि यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति मात्र बुद्धि के द्वारा ही संभव हो सकती है।

उदाहरण के लिए  $2+2=4$  यह हमेशा और सर्वत्र सत्य है। यानी यथार्थ ज्ञान गणित में मिलता है।

हेराक्लीटस, सुकरात, प्लेटो, देकार्त, स्पिनोजा, लाइबनिज, पारमेनाइडस, काण्ट, वूल्फ, हीगेल आदि प्रमुख बुद्धिवादी दार्शनिक माने जाते हैं। यहां देकार्त, स्पिनोजा और लाइबनिज को महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में स्वीकार किया गया है। सी.ई.एम. जोड ने लिखा है कि "Descarts (1596-1650) Leibnitz (1646-1716) and Spinoza (1632-1677) are rationalists in the Phlosophical sense."<sup>94</sup>

**रेने देकार्त**—आधुनिक युग में इन्हें सबसे अधिक महत्त्व दिया जाता है। इन्हें आधुनिक दर्शन का जन्मदाता कहा जाता है। रसेल ने लिखा है कि "रेने देकार्त को प्रायः आधुनिक दर्शन का संस्थापक माना जाता है और मैं समझता हूं कि यह ठीक ही है। गहन दार्शनिक एवं सूक्ष्म विचार का वह पहला आदमी है, जिसकी विचारधारा पर नूतन पदार्थ विज्ञान एवं ज्योतिषशास्त्र की गहरी छाप पड़ी है। यद्यपि यह सत्य है कि उसमें मध्ययुगीन शास्त्रीयता बहुत कुछ शेष है, फिर भी मान्यताओं को चुपचाप मान नहीं लेता है, बल्कि स्वयं एक सर्वथा नवीन दर्शन की रचना करने का प्रयत्न करता है। एरिस्टोटल के पश्चात् यह काम बन्द हो गया था और इसका प्रारम्भ होना उस आत्मविश्वास का परिचायक है जो मनुष्य में विज्ञान के विकास के कारण उत्पन्न हो गया था। ये प्रसिद्ध गणितज्ञ, वैज्ञानिक और दार्शनिक थे। गणित और ज्योतिर्विद्या में इन्होंने कुछ महत्त्वपूर्ण अनुसंधान किये हैं। दर्शन के आधुनिक युग के तो इन्हें पिता ही कहा जाता है। उनके प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ—दार्शनिक पद्धति पर विचार, प्राथमिक दर्शन की साधना और दर्शन के सिद्धान्त हैं।

इनके अनुसार बुद्धिजन्य ज्ञान ही सदैव असंदिग्ध एवं सत्य रहता है। इन्द्रियां तो अक्सर असत्य को सत्य बतलाती हैं। इसलिए उन पर भरोसा नहीं किया जा सकता है। आत्मा का सार तत्त्व विचार है, इसलिए बुद्धि हमारे मानसिक जीवन का सार अंश है। बुद्धि अपने आप ज्ञान का विकास करती है। अन्य बुद्धिवादियों की तरह इन्होंने भी माना कि बुद्धि के द्वारा ही हमें यथार्थ और असंदिग्ध ज्ञान मिलता है। अनुभव के द्वारा प्राप्त ज्ञान हमेशा सत्य नहीं होता है।

इन्होंने प्रत्ययों को तीन भागों में बांटा है—

1. बाह्यार्थ प्रसूत—जो बाहरी पदार्थों से उत्पन्न होते हैं।

2. कल्पना प्रसूत—इस प्रत्यय की उत्पत्ति कल्पना से होती है।

उदाहरणस्वरूप सोने का पहाड़, उड़ता हुआ घोड़ा आदि।

3. जन्मजात अथवा सहज प्रत्यय—ये प्रत्यय मनुष्य के मस्तिष्क में जन्मकाल से ही विद्यमान रहते हैं। इन्हें ईश्वर प्रदत्त बतलाया गया है। आत्मा, ईश्वर, कार्यकारण—नियम, द्रव्य इत्यादि का ज्ञान सहज (जन्मजात) है। देकार्त ने इन प्रत्ययों (सहज प्रत्ययों) को सबसे अधिक महत्त्व प्रदान किया है। यही कारण है कि इन्हें बुद्धिवादी कहा जाता है। इनका मानना है कि बुद्धि जन्मजात प्रत्ययों

से गणित की विधि अथवा निगमन विधि के द्वारा हमें सार्वभौम एवं अनिवार्य ज्ञानप्रदान करता है।

**बेनेजिक्ट स्पिनोजा**—इनके दर्शन में बुद्धि की शक्ति और महत्ता पर अटल विश्वास पाया जाता है। यह बुद्धि ही अपरोक्षानुभूति का माध्यम है। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक एथिका के दूसरे भाग में बुद्धि की प्रकृति के विषय में स्पिनोजा ने लिखा है—“बुद्धि का स्वभाव यह नहीं है कि पदार्थों को आकस्मिक समझो, अपितु यह है कि उसे अनिवार्य समझा जाए।” अब स्पष्ट है कि बुद्धि स्वभाव से ही पदार्थों के यथार्थ रूप में अर्थात् जैसे कि वे वास्तव में हैं, वैसे अनिवार्य रूप से देखती है।

इन्होंने तीन प्रकार के ज्ञान को स्वीकार किया है—(क) काल्पनिक ज्ञान, (ख) अनुमान जन्य ज्ञान और (ग) प्रतिभ ज्ञान। काल्पनिक ज्ञान को इन्होंने वृहद् अर्थ में लिया है। इसके अन्तर्गत इन्द्रिय, स्मृति इत्यादि द्वारा प्राप्त ज्ञान भी आ जाते हैं। यह स्पष्ट एवं अपूर्ण ज्ञान कहलाता है। यथार्थ ज्ञान बुद्धिजन्य होता है। अनुमानजन्य तथा प्रतिभ ज्ञान बौद्धिक ज्ञान के ही प्रकार हैं। इन दोनों यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति बुद्धि से होती है। इसकी प्राप्ति के लिए निगमनात्मक विधि ही पर्याप्त है। बुद्धि और बाह्य जगत् में स्वाभाविक रूप से अनुकूलता पायी जाती है। इसीलिए बौद्धिक ज्ञान में यथार्थता रहती है।

बौद्धिक ज्ञान की प्राथमिकता के विषय में इनका (स्पिनोजा का) कहना है कि विचार और विस्तार, चेतन और जड़ दोनों एक ही ईश्वर के दो धर्म हैं। दोनों में एक ही द्रव्य व्याप्त है। इस तरह हम देखते हैं कि जहाँ देकार्त द्वैतवादी सिद्ध होते हैं, वहीं स्पिनोजा एकवादी एवं सर्वेश्वरवादी दार्शनिक के रूप में दृष्टिगत होते हैं।

**विल्हेल्म लाइबनीज**—इन्हें प्रसिद्ध गणितज्ञ के रूप में स्वीकार किया गया है। इन्हें देकार्त की तरह गणितज्ञ माना जाता है। सी.ई.एम. जोज ने ठीक ही लिखा है—“Descartes and Leibnitz were both eminent mathematicians and their philosophies are accordingly marked mathematical in character. Affirming, that is to say, that we possess incontestable knowledge independently of sense experience, they proceeded to use their reasons to deduce what the universe must be like in order to account for our having such knowledge.” इनके अनुसार जगत् में एक गणितीय एवं तर्कयुक्त व्यवस्था है। इस व्यवस्था के नियम बौद्धिक नियम हैं। अस्तु जगत् को केवल बुद्धि के द्वारा ही समझा जा सकता है। इन्होंने भी जन्मजात प्रत्यय को ही ज्ञान का आधार माना है। इनका कहना है कि मन न तो साफ कागज की तरह है, न किसी खजाने की तरह ही। मन एक पत्थर के टुकड़े की तरह है, जिसमें मूर्ति बनने की क्षमता पूर्व से ही विद्यमान रहती है।

इनके मुताबिक मौलिक तत्त्व चिद्बिन्दु है, जो आध्यात्मिक एवं गवाक्षहीन हैं। चिद्बिन्दु को अंग्रेजी में मोनाइड कहा जाता है। यह चूंकि गवाक्षहीन है इसलिए यह बाहर से कोई भी ज्ञान ग्रहण नहीं कर सकता है। चिद् बिन्दुओं की संख्या अनन्त है। हरेक चिद्बिन्दु छोटे पैमाने पर विश्व का प्रतीक है। अब जो ज्ञान वह अपने अन्दर से उत्पन्न करता है, वह उसके विषय में सत्य होगा ही, इसलिए विश्व के विषय में भी सत्य होगा ही। चिद्बिन्दु चूंकि विश्व का प्रतीक है इसलिए अपने को जानने के संदर्भ में विश्व को भी जान लेता है। ऐसा इसलिए होता है कि ईश्वर जो विश्व का नियन्ता एवं विधाता है, उसने सृष्टि के प्रारंभ में ही ऐसी व्यवस्था स्थापित कर दी है। जहां देकार्त आदि बुद्धिवादियों ने मूल प्रत्ययों को जन्मजात माना है, वहां इन्होंने (लाइबनीज) सभी प्रत्ययों को जन्मजात ठहराया है।

वूल्फ और हीगेल ने भी बुद्धिवादी सिद्धान्त की सम्पुष्टि की है। हीगेल के मुताबिक मूल तत्त्व एक सर्वव्यापक बुद्धि है और उसी का प्रकाश हमारी बुद्धि है। बुद्धि वास्तविकता है और वास्तविकता ही बुद्धि है। अब स्पष्ट है कि चूंकि वास्तविकता ही बौद्धिक है, उसका ज्ञान बुद्धि से ही संभव हो सकता है। बौद्धिक ज्ञान की पद्धति द्वन्द्वात्मक है जो वाद, प्रतिवाद और संवाद की तीन अवस्थाओं से गुजरती है। इस ज्ञान की चरमावस्था या पराकाष्ठा दर्शनशास्त्र में होती है। वूल्फ ने भी अपने ढंग से बुद्धिवादी सिद्धान्त की सम्पुष्टि की है।

**मूल्यांकन**—बुद्धिवादियों ने बुद्धि को ज्ञान का एकमात्र साधन मानकर भूल की है। इसकी सबसे बड़ी भूल अनुभव का निषेध करना है। अनुभव को अस्वीकार करने के कारण यह एकांगी सिद्धान्त बनकर रह गया है। काण्ट ने स्वीकार किया है कि “बुद्धि के बिना अनुभव अंधा है और अनुभव के बिना बुद्धि रिक्त है।”

इन्होंने आगमनात्मक विधि को नकार कर भयंकर भूल की है। इनका आदर्श गणित है और गणित की पद्धति निगमनात्मक है, इसलिए इन्होंने निगमनात्मक विधि को ही मन की पद्धति स्वीकार किया है। ज्ञान के लिए जितना निगमन विधि का महत्त्व है, उतना ही आगमन विधि का। इनमें किसी की उपेक्षा करना अनुचित है।

बुद्धि के स्वरूप के सम्बन्ध में भी बुद्धिवादियों की धारणा उचित नहीं है। जैसे कि प्रत्यक्षीकरण, कल्पना, स्मृति चिंतन आदि सभी मानसिक क्रियाओं के मूल में संवेदन रहता है। इसलिए यह कहना कि बुद्धि बिल्कुल स्वतंत्र है, सत्य नहीं कहा जा सकता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने भी बतलाया है कि सभी प्रकार की मानसिक क्रियाओं, यथा—प्रत्यक्षीकरण, चिन्तन इत्यादि की जड़ में संवेदन विद्यमान रहते हैं। बुद्धिवादियों के तथाकथित बुद्धिजन्य ज्ञान भी अनुभव से पूर्ण स्वतंत्र नहीं होते हैं। अनुभव से ही हम  $2+2=4$  की सत्यता समझ पाते हैं। वस्तु के अस्तित्व का ज्ञान बुद्धि से नहीं, बल्कि अनुभव से होता है।

यथार्थ ज्ञान के लिए सिर्फ सार्वभौमिक और अनिवार्यता ही नहीं है बल्कि उसके लिए नवीनता की भी जरूरत है। काण्ट का कहना है कि यथार्थ ज्ञान वही है, जिसमें सार्वभौमिकता, अनिवार्यता और नवीनता के गुण विद्यमान हों। ज्ञान की यथार्थता में तीनों का समान महत्त्व है।

प्लेटो आदि बुद्धिवादी दार्शनिकों ने प्रत्यय जगत् को ही वास्तविक माना है और अनुभव जगत् को मिथ्या सिद्ध करने की कोशिश की है। अनुभव जगत् को वे सिर्फ मिथ्या कहते हैं, इसे सिद्ध नहीं कर पाते हैं। इसी तरह देकार्त, स्पिनोजा एवं लाइबनिज ने बौद्धिक ज्ञान की प्रामाणिकता ईश्वर के आधार पर प्रमाणित करना चाहा है, परन्तु वैज्ञानिकों की दृष्टि में ईश्वर का अस्तित्व स्वयं विवादास्पद है। सी.ई.एम. जोड ने भी लिखा है कि "In fact, however, Leibnitz fails to offer any satisfactory proof of the existence of god."<sup>95</sup> फिर भी लाइबनिज की बौद्धिक क्षमता को झुठलाया नहीं जा सकता है, तभी तो रसेल ने लिखा है, "Leibnitz was one of the supreme intellect of all time."<sup>96</sup> अधिकांश विचारकों ने इन्हें संगत बुद्धिवादी दार्शनिक के रूप में स्वीकार किया है। हीगेल और ब्रैडले के लिये अगुआ का काम किया है। रवीन्द्रनाथ टैगोर आदि समकालीन भारतीय दार्शनिकों ने भी लाइबनीज की कृति एवं महत्त्व को स्वीकार किया है। किन्तु रसेल ने लाइबनीज से कहीं अधिक स्पिनोजा को सराहा है, उन्हीं के शब्दों में "...but as a human being he was not admirable. He had, it is true, the virtue that one would wish to find, mentioned in a testimonial to a prospective employee : he was industrious frugal, temperate and financially honest. But he was wholly destitute of those higher philosophic virtues that are so notable in Spinoza."<sup>97</sup> सी.ई.एम. जोड ने इनकी रचनाओं एवं कृतियों का उल्लेख करते हुए लिखा है—“This is, broadly speaking, the method adopted by Euclid to prove propositions in geometry. Spinoza's most important work is his Ethics, which is divided into five parts : "Of God", "Of the Nature and origin of the Mind", "OF the Nature and origin of the Emotions, "Of Human Bondage" and "Of Human Freedom"....be attainable by the process of a priori reasoning from premises which were taken to be self-evident."<sup>98</sup>

अतः इनकी कथनी और करनी (कार्य) दोनों एक थी, किन्तु लाइबनीज में ऐसी बात नहीं थी। पर इतना तो मानना पड़ेगा कि इनका बुद्धिवाद अन्य बुद्धिवादियों से अधिक रोचक एवं युक्तिसंगत है।

---

---

अध्याय-14  
समीक्षावाद

---

---

काण्ट का दर्शन समीक्षावादी है। समीक्षावाद का मोह न अनुभववाद से है, न बुद्धिवाद से। उनका लक्ष्य इन दोनों से परे एक अनुभवातीत (Transcendental) दर्शन की स्थापना करना है। इसीलिए एफ. थिली ने लिखा है कि "To limits Hume's skepticism on the one hand, and the old dogmatism on the other, and to refute and destroy materialism, fatalism and superstition.. He himself had come from the rationalistic school of wolf, but had also been attracted to English empiricism and Rousseau and Hume had aroused him from his dogmatic slumbers."<sup>99</sup> ह्यूम और रूसो के प्रभाव में अन्तर बतलाते हुए रसेल ने लिखा है कि "Hume for Kant, was an adversary to be refuted but the influence of Rousseau was more profound."<sup>100</sup> दरअसल समीक्षावाद दर्शन होने की अपेक्षा दर्शन की पद्धति है, एक पूर्ण दर्शन की अपेक्षा यह दर्शन की भूमिका है। इनके समीक्षावाद को समन्वयवादी दर्शन भी कहा जाता है। दोनों में मात्र सामंजस्य स्थापित ही नहीं किया बल्कि दोनों को यथास्थान महत्त्व प्रदान किया है।

काण्ट के पहले कई विचाराधाराएँ बह रही थीं। उनमें मुख्य रूप से दो विचाराधाराओं के बीच टकराव की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। जहां बुद्धिवादियों ने बुद्धि को ही ज्ञान प्राप्ति का एकमात्र साधन माना, वहां अनुभववादियों ने अनुभव को ही ज्ञान प्राप्ति का एकमात्र साधन माना है। बुद्धिवाद के अनुसार ज्ञान मनुष्य की विशेषता है। ज्ञान बुद्धि से प्राप्त होता है। ऐसा ज्ञान अनुभव से नहीं मिल सकता है। हमारा अनुभव वर्तमान का होता है और वर्तमान अनुभव कुछ का ही हो सकता है। अतः बुद्धिवादियों की दृष्टि में अनुभव ज्ञान-प्राप्ति का साधन नहीं हो सकता है। इसके विपरीत अनुभववादियों का कहना है कि वस्तुओं के अस्तित्व का ज्ञान वास्तविक ज्ञान है। ऐसा ज्ञान बुद्धि से नहीं, अनुभव से प्राप्त होता है। काण्ट ने दोनों मत की समीक्षा अथवा समन्वय करने की चेष्टा की है। उनका कहना है कि यथार्थ ज्ञान बुद्धि और अनुभव का सम्मिलित परिणाम है। बुद्धि के बिना अनुभव अन्धा है और अनुभव के बिना बुद्धि खाली या रिक्त है। (Percepts without concepts are blind and concepts without percepts are empty—that is to say, concepts have no meaning apart from the perceptual elements which they unify.) ज्ञान की सामग्री अनुभव से और उसका आकार बुद्धि से मिलता है। आकार के बिना सामग्रियाँ अव्यवस्थित और अस्त-व्यस्त हैं। बुद्धि के आकार उन्हें व्यवस्थित करते हैं। कठोपनिषद् में भी शरीर को रथ, बाह्य इन्द्रियों को घोड़ा, मन को लगाम तथा बुद्धि को सारथी माना है अर्थात् रथ की दिशा और दशा पर बुद्धि ही नियंत्रण रखती है।

बुद्धिवादियों की तरह अनुभववादियों ने भी बुद्धि की सत्ता को माना है, पर गौण रूप में। बुद्धिवादियों के अनुसार बुद्धि सक्रिय है। उसमें जन्मजात

प्रत्यय हैं। उन्हीं जन्मजात प्रत्ययों से यथार्थ ज्ञान बनता है। बुद्धिवाद और अनुभववाद की त्रुटियों की ओर इशारा करते हुए सी.ई.एम. जोड ने लिखा है कि, "It was this problem which, more than any other had led to the controversy between the rationalists and the empiricists. The rationalists had tended to reason away the actual stuff of our sense-experience, they were concerned with the world as it ought to be, not in the moral sense of the world "ought", but in the sense in which ought implies necessity."<sup>101</sup> जोड साहब ने भी दोनों की आंशिक सत्यता को दर्शाया है। दर्शनशास्त्र में काण्ट का महत्त्वपूर्ण योगदान है। उनकी आंशिक सत्यता को अंगिकार कर लेना ही काण्ट की महत्त्वपूर्ण देन है। सी.ई.एम. जोड ने ठीक ही लिखा है कि "Kant's great contribution to philosophy is, therefore, to stress the activity of the experiencing subject. The mind in perception is not passive, but active."<sup>102</sup>

अतः जहां अनुभववादियों ने बुद्धि को निष्क्रिय माना है और मन को सादे स्लेट की तरह बतलाया है, इनकी दृष्टि में जन्म से कोई प्रत्यय नहीं रहता है। जो प्रत्यय उसमें है, वे अनुभव से उपार्जित हैं। जब तक अनुभव से प्रत्यय नहीं मिलते, तब तक बुद्धि निष्क्रिय बनी रहती है। उसमें ज्ञान की शक्ति रहती है, पर निष्क्रिय रूप में। ज्योंही अनुभव से प्रत्यय आते हैं, त्योंही वह सक्रिय हो जाती है। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है कि काण्ट की दृष्टि में बुद्धिवाद और अनुभववाद दोनों आंशिक सत्य बतला रहे हैं। यानी दोनों के मत में आंशिक सत्यता है। बुद्धि सक्रिय भी है और निष्क्रिय भी। उसमें जनमजात प्रत्यय भी है, अनुभवजन्य संवेदनाएँ भी। अनुभव की संवेदनाएँ जब बुद्धि तक पहुंचती हैं, तब बुद्धि अपने जन्मजात प्रत्ययों के साथ सक्रिय हो जाती हैं और संवेदनाओं को व्यवस्थित कर ज्ञान बनाती है।

दोनों मतावलम्बियों के बीच ज्ञान की पद्धति को लेकर भी मौलिक भेद है। ज्ञान की निगमनात्मक पद्धति को बुद्धिवादियों ने स्वीकार किया है जबकि अनुभववादियों ने आगमनात्मक पद्धति को ही महत्त्वपूर्ण बतलाया है। निगमनात्मक पद्धति के मुताबिक बुद्धि में जो जन्म से प्रत्यय विद्यमान हैं, उनसे अन्य प्रत्ययों को निःसृत किया जाए। फ्रेंच दार्शनिक देकार्त का कहना है कि हमारे मन में आत्मा संबंधी प्रत्यय हैं। उसी प्रत्यय से उन्होंने ईश्वर की सत्ता को सिद्ध किया है। फिर ईश्वर की सत्ता से उन्होंने विश्व की सत्ता सिद्ध की है। इस तरह से उन्होंने एक बिन्दु से अन्य सारे दार्शनिक तथ्यों की उद्भावना की है। अनुभववादियों की आगमनात्मक पद्धति निरीक्षण-परीक्षण पर आधारित है। निरीक्षण एवं परीक्षण मन का भी हो सकता है। संभवतः लॉक की मनोवैज्ञानिक पद्धति इसी आधार पर निकली है। निरीक्षण और परीक्षण बाह्य तथ्यों का भी हो सकता है। इसी निरीक्षण और प्रयोग के आधार पर अनुभववादियों ने वैज्ञानिक पद्धति को अपना आदर्श माना है। बुद्धिवादियों का जोर निगमनात्मक पद्धति पर



था, क्योंकि गणित ही उनके ज्ञान का आदर्श है। अनुभववादियों का मोह आगमनात्मक पद्धति से है, क्योंकि प्राकृतिक विज्ञान तथा मनोविज्ञान उनके ज्ञान का आदर्श है। काण्ट ने उपर्युक्त दोनों मतों का समन्वय किया। उनका कहना है कि गणित का भी महत्त्व है और प्राकृतिक विज्ञानों का भी यथास्थान महत्त्व है और आगमन एवं निगमन दोनों ही पद्धतियों से वास्तविक ज्ञान मिल सकता है। काण्ट के सामने दो प्रश्न हैं—क्या गणित से यथार्थ ज्ञान मिलता है? क्या प्राकृतिक विज्ञानों से यथार्थ ज्ञान मिलता है? काण्ट ने उपर्युक्त दोनों प्रश्नों का भावात्मक उत्तर दिया है?

सर्वप्रथम काण्ट ने ज्ञान की एक निश्चित परिभाषा अपने सामने रखी है। इनका कहना है कि यथार्थ ज्ञान के तत्त्वों का समावेश बुद्धिवाद और अनुभववाद दोनों में है। बुद्धिवादियों के मुताबिक ज्ञान के दो तत्त्व हैं—सार्वभौमिकता और अनिवार्यता। अनुभववादियों के अनुसार ज्ञान हमेशा नवीन होता है। काण्ट ने बतलाया है कि ज्ञान—सार्वलौकिक, अनिवार्य एवं नवीन होता है। सार्वलौकिकता और अनिवार्यता बुद्धि की देन है एवं नवीनता अनुभव की देन है। काण्ट के मुताबिक हमारा ज्ञान अनुभव से प्रारम्भ होता है। इसका मतलब यह नहीं कि यह मात्र अनुभव की उपज है। यथार्थ ज्ञान में बुद्धि और अनुभव दोनों का समान योगदान है। सार्वलौकिकता एवं अनिवार्यता जितना आवश्यक है, उतनी ही आवश्यकता नवीनता की है। इस प्रकार काण्ट का ज्ञानवाद अनुभववादियों तथा बुद्धिवादियों के ज्ञानवाद का समन्वय है।

चूंकि इन दोनों से परे एक अनुभवातीत (Transcendental) दर्शन की स्थापना ही काण्ट का मुख्य ध्येय रहा है। इसलिए दोनों से अपनी ममतामयी भावना से सम्बन्ध विच्छेद कर लेते हैं। अर्थात् इन्होंने दोनों से कोई मोह नहीं रखा है।

काण्ट ने अपने को दोनों का परिहार कर्ता के रूप में दर्शाने की चेष्टा की है किन्तु उन्हें इसमें पूर्ण सफलता नहीं मिली है। काण्ट की दृष्टि में ज्ञान सार्वलौकिक, अनिवार्य एवं नवीन होता है। उन्होंने यह भी कहा है कि ऐसा ज्ञान भौतिक विज्ञान और गणित में संभव है। किन्तु भौतिक विज्ञान का इतिहास इस परिभाषा के प्रतिकूल है। गणित के सम्बन्ध में सार्वलौकिक और अनिवार्यता की चर्चा करना उचित है। परन्तु उसे अनुभव—सापेक्ष बतलाना उचित नहीं है। गणित शुद्ध रूप से बुद्धि पर आधारित है। उसमें नवीनता के बजाय शाश्वत सत्यों की उद्भावना होती है। मूर्त्त के बजाय शाश्वत सत्यों की उद्भावना होती है। मूर्त्त के बजाय अमूर्त्त चिन्तन होता है। इस तरह काण्ट की ज्ञान—परिभाषा न भौतिक विज्ञान पर लागू है और न गणित—विज्ञान पर। किन्तु इसका अर्थ कदापि नहीं लगाया जाना चाहिए कि काण्ट का कोई महत्त्व ही नहीं है। वस्तुतः ज्ञान के क्षेत्र में उनकी देन को भुलाया नहीं जा सकता है। इनके संबंध में बर्ट्रैंड रसेल ने ठीक ही लिखा है कि, "Imanual Kant (1724-1804) is generally considered the greatest of modern philosophers. I can not myself

agree with this estimate, but it would be foolish not to be recognize his great importance.”<sup>103</sup> सी.ई.एम. जोड ने तो प्लेटो की तरह महान् दार्शनिक माना है और तभी तो लिखा है कि “...We may well find significance in the fact that recent developments in the view of the external world sponsored by physics have tended to endorse the philosophical theories of two of the greatest philosophers—Plato and Kant.”<sup>104</sup> इनकी रचनाओं में क्रिटिक ऑफ प्योर रीजन” वैज्ञानिक एवं यथार्थ ज्ञान की कसौटी माना जाता है किन्तु बाद में चलकर क्रिटिक ऑफ प्रोक्टीकल रीजन में इन्होंने स्वयं अपनी मान्यताओं का खण्डन कर दिया है। रसेल ने भी इस बात की सम्पुष्टि की है। अर्थात् बाद की रचनाओं के कारण इनकी ज्ञान मीमांसा भी विवादास्पद बन गया है। इनका संश्लेषणात्मक एवं विश्लेषणात्मक ज्ञान तथा फेनॉमेनॉ एवं नोमेनॉ का सिद्धान्त भी अयुक्तसंगत प्रतीत होता है।

---

---

अध्याय-15

सत्यता का व्यवहारवादी सिद्धान्त

---

---

सत्यता और असत्यता के चार प्रमुख सिद्धान्त हैं। वे हैं—अन्तर्भूतिवादी सिद्धान्त अथवा अन्तःप्रतिभावादी सिद्धान्त, सामंजस्य सिद्धान्त, संवादिता सिद्धान्त और व्यावहारिकतावादी सिद्धान्त। एस.सी. चटर्जी के शब्दों में, “There are four main theories of truth and error which bear on these two questions. These are known as the intuitionist, the coherence, the pragmatist, and the correspondence theory of truth and error.”

सत्यता और असत्यता की समस्या खासकर व्यावहारिकतावादियों के लिए Central Problem माना जाता है। सी.ई.एम. जोड ने ठीक ही लिखा है—“The problem of truth and error is the central problem of pragmatism.” अतः व्यावहारिकतावादियों के लिए यह सबसे महत्वपूर्ण समस्या है। चूंकि इन्होंने ज्ञान और जीवन में अटूट सम्बन्ध को स्वीकार किया है। जो ज्ञान व्यावहारिक जीवन में उपयोगी या लाभप्रद हो, वही सत्य है। इसी प्रकार जिस ज्ञान की जीवन में कोई उपयोगिता नहीं है, वह असत्य करार दिया गया है। व्यावहारिकतावादियों के शिरोमणि जेम्स ने स्वयं कहा है कि कोई भी ज्ञान हमेशा के लिए सत्य नहीं होता है। आज जो सत्य है, वह कल असत्य हो सकता है एवं आज का असत्य कल सत्य भी हो सकता है। इसलिए कोई भी सत्य निरपेक्ष और अपरिवर्तनशील नहीं कहा जा सकता है। अतः इस मत के अनुसार निरपेक्ष सत्य नाम की कोई चीज नहीं है। सी.ई.एम. जोड के शब्दों में “Absolute truth is figment of the logicians, it is of no importance in practice.” यानी किसी ज्ञान का परिणाम देखकर ही उसे सत्य या असत्य कहा जा सकता है। जिस ज्ञान से जीवन एवं व्यवहार में कोई अन्तर नहीं पड़े, वह असत्य ज्ञान है। जो ज्ञान जीवन में कोई उपयोगी या लाभप्रद प्रभाव डाले, वही सत्य है। इस सम्बन्ध में Russell ने लिखा है—“Ideas, we are told by James, become true in so far as they help us to get into satisfactory relations with other parts of our experience. An idea is 'true' so long as to believe it is profitable to our lives.” अतः जेम्स ने माना है कि इन्द्रियानुभववादी क्षेत्र में सत्य का नकद मूल्य रहता है। इसका तात्पर्य यह है कि कोई भी प्रत्यय या विचार आरंभ से ही सत्य या मिथ्या नहीं होता, बल्कि व्यावहारिक सफलता द्वारा परीक्षित हो जाने पर ही वह सत्य या असत्य सिद्ध होता है। जाँच या परीक्षा करने के पश्चात् ही सत्य अथवा असत्य का निर्णय देना विवेक सम्मत है।

कभी—कभी किसी ज्ञान या प्रत्यक्ष का साक्षात् व्यावहारिक परीक्षण या जांच संभव नहीं होता है। ऐसी स्थिति में प्रत्यय—विशेष या कथन विशेष की सत्यता का निर्णय मनुष्य की नैतिक एवं भावनामूलक मांगों के द्वारा होना चाहिए। काण्ट के अनुसार ईश्वर में विश्वास हमारे नैतिक जीवन की एक आवश्यक मान्यता है। जेम्स का भी विचार है कि अगर ईश्वर का प्रत्यय हमारे

हृदय तथा नैतिकता को संतुष्ट करता है तो वह सत्य कहा जा सकता है। इस प्रकार जेम्स ने नैतिक और धार्मिक विचारों में भी अनुभव और विश्वास को प्राथमिकता दी है। इनके अनुसार निषेध और तर्क के परे तत्त्व की कल्पना तिरोहित नहीं हो सकती है। अस्तु जीवन का महत्त्व कार्य करते हुए अनुभव प्राप्त करने में है, क्योंकि केवल प्रयोगात्मक सत्य ही आचरण को प्रभावित कर सकते हैं। पीयर्स ने भी माना था कि किसी विश्वास की सत्यता या किसी वस्तु का सत् आत्मगत न होकर वस्तुगत और प्रयोगपरक होता है। पीयर्स ने यह सिद्धान्त स्थापित करने का प्रयत्न किया है कि ज्ञान का सम्बन्धन केवल बुद्धि से नहीं वरन् संकल्प और कार्य से भी है। पीयर्स के अनुसार विश्वास या वस्तु का अर्थ उसका कार्य है। इन विचारों को विलियम जेम्स ने एक ऐसे विशद् दर्शन (फलवाद) के रूप में परिणत कर दिया कि बीसवीं शताब्दी में प्रत्येक दर्शन प्रभावित हुआ है। इन्होंने सत्य ज्ञान की कसौटी को सफल किया, तथा प्रयोजन-सिद्धि को जैविक आवश्यकताओं की तृप्ति माना है। सत्य सापेक्ष और साधनरूप में है। निरपेक्ष सत्य मृग-मरीचिका है। जेम्स ने निरपेक्षवाद, अध्यात्मवाद, बुद्धिवाद या विवेकवाद का विरोध किया है। इन्होंने सत्य को परिवर्तनशील रूप में देखा और मनुष्य का सार तत्त्व उसमें निहित विश्वास करने की इच्छा को स्वीकार किया है। इन्होंने धर्म की विविध आलोचना अथवा धर्म पर विविध आक्रमण करने वालों की तीखी आलोचना की है। इनके अनुसार यह आक्रमण एक प्रकार का लड़कपन है। D.M. Dutta के शब्दों में "James criticizes the different kinds of attacks made on religion by persons who try to discredit it by showing its law origin, such as unbalanced hysterical mind, unhealthy nerves, perversion of the sexual instinct and the like. He points out that such attempts are as childish as would be the attempt to refute the value of a scientific discovery or an industrial commodity by showing up the author's neurotic constitution. The origin is no criterion of value. Value must be ascertained by its satisfactory results." डॉ. देवराज ने ठीक ही कहा है कि "हमारी आवश्यकताएं तर्कों एवं युक्तियों को उत्पन्न करती हैं, न कि हमारी युक्तियां आवश्यकताओं को"। इस प्रकार व्यावहारिकता अथवा उपयोगिता ही सत्यता की परिभाषा तथा कसौटी दोनों हैं।

व्यवहारवादी सत्य की स्थापना के लिए कर्म तथा परिणाम के साथ-साथ विश्वास को भी महत्त्वपूर्ण मानते हैं। जो विश्वास व्यावहारिक लक्ष्यों की सिद्धि अथवा मानवीय व्यवस्था एवं प्रगति में सहायक हो उसे सत्य कहा जा सकता है। जेम्स ने स्वयं कहा है कि कोई विश्वास सत्य है अगर वह हमें सफलता की ओर ले जाता है, अथवा मूल्यवान आदतों की स्थापना करता है। जब वह हमें पथभ्रष्ट कर देता है अथवा विघटनकारी आदतों को जन्म देता है तो वह मिथ्या है।

पाश्चात्य दर्शन में इसके चार प्रमुख समर्थकों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—सी.एस. पीयर्स, विलियम जेम्स, जॉन डीवी तथा एफ.सी.एस. शिलर। इनके सामान्य विचार उपर्युक्त विवेचनों से स्पष्ट हो गए हैं। फिर भी इनके विशिष्ट विचारों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करना आवश्यक प्रतीत होता है। पीयर्स को व्यवहारवाद का जन्मदाता ही माना जाता है। पीयर्स ने ही अपने लेख "How to make our ideal clear" में सर्वप्रथम "प्रेग्मेटिज्म" शब्द का प्रयोग किया है। इनके विचारों पर काण्ट के व्यावहारिक बुद्धि की समीक्षा (Critique of practical reason) तथा डार्विन के विकासवाद का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। इसकी स्पष्ट घोषणा है—“किसी भी प्रत्यय का अर्थ निश्चित करने के लिए इसका वस्तुओं के जगत् में प्रयोग करो और इसका जो भी परिणाम निकले, वही इस प्रत्यय के अर्थ का निर्माण करेगा।” व्यवहारवादियों का भी तो यही कहना है कि विचार कार्य रूप में जब सफल होते हैं तो वे सत्य हैं। (If ideas work, they are true.) इतना ही नहीं इन्होंने यह भी कहा है—“The real as that known in statements ordinary called true”. व्यावहारिकतावाद को एक आन्दोलन का रूप देने तथा इसे लोकप्रिय बनाने का श्रेय जेम्स को दिया जाता है। जेम्स व्यवहारवादी पद्धति के लिए एक सूत्र देते हैं—Does it works? अर्थात् क्या यह कार्य करता है? या क्या इससे लाभ मिलेगा? इस प्रकार व्यावहारिक उपयोगिता ही सत्यता की कसौटी है। इनके अनुसार सत्य न तो किसी विचार या प्रत्यय की स्थायी सम्पत्ति है और न इसे कहीं बाहर खोजने की जरूरत है। सत्य घटनाओं के द्वारा प्रकट होता है। Russell के शब्दों में, “True is one species of good, not a separat category. Truth happens to an idea, it is made true by events.” सत्य का निर्माता मनुष्य स्वयं है। जेम्स ने स्वयं कहा है कि “Truth is made just as health, wealth and strength are made in the course of experience”. अर्थात् अनुभव के साथ-साथ सत्य भी उसी प्रकार निर्मित होते हैं जिस प्रकार स्वास्थ्य, समृद्धि तथा शक्ति निर्मित होते हैं। इस प्रकार सत्यता निरपेक्ष एवं अपरिवर्तनशील न होकर सापेक्ष और परिवर्तनशील होता है। अतः जेम्स के अनुसार वे सभी विचार सत्य हैं, जो जीवन-धारा को आगे बढ़ाने में समर्थ हैं। भारत में चार्वाक आदि भौतिकवादी दार्शनिकों ने इसे इनके पूर्व ही स्वीकार कर चुके हैं।

एच.एम. भट्टाचार्य ने ठीक ही लिखा है—“In the Indian systems of thought too, pragmatism is not a new and distinct 'ism' most of the accounts of truth given by Indian writers having more or less pragmatic bearing.” बौद्धों ने भी सत्य के व्यावहारिक पक्ष पर जोर दिया है। भट्टाचार्य जी के ही शब्दों में, “The Buddhist seems to replace of theoretic by the practical aspect of truth and is a pledged

pragmatist professing that truth consists essentially in the conative satisfaction of the knowing agent."<sup>105</sup>

प्रश्नचिह्न वही उपस्थित होता है, जहां विचार के कारण विचारधारा अवरुद्ध होने लगती है। जेम्स ने निरुपाधिक रूप में न किसी विचार को स्वीकार किया है और न तिरस्कार ही। अतः सत्य विचार बैंक के वोट की तरह साख पर चलते हैं, जब तक उन्हें कोई लेने से इन्कार नहीं करता तब तक चलते रहते हैं। शिलर ने भी जेम्स के ही सत्य सिद्धान्त को अपनाकर एक नये ढंग से प्रस्तुत किया है। इन्होंने उपादेयता के साथ-साथ उसके काम करने की बात पर भी जोर दिया है। इनका कहना है कि "It must be admitted may emphasised that is to say that all all truth must work and be useful." इनके अनुसार सत्यता एवं असत्यता हमारे निर्णयों को दिये गये वैसे भावात्मक एवं अभावात्मक मूल्य हैं, जो व्यावहारिक जीवन में अनेक आधार पर प्राप्त सफलता-असफलता के अनुरूप उन्हें दिये जाते हैं। शिलर ने यहां सत्यता एवं असत्यता का दावा (Truth and truth claim) का उल्लेख किया है। सभी निर्णय सत्यता का दावा करते हैं परन्तु बहुत ही कम निर्णय व्यावहारिक सफलता में सहायक होते हैं और वह सहायक होने के फलस्वरूप सत्य होते हैं। शिलर का कहना है कि सत्यता एवं सत्यता का दावा में कोई स्थिर या निरपेक्ष सम्बन्ध नहीं रहता है। जो निर्णय आज किसी खास सन्दर्भ में सत्य है, वह सदैव सत्य बना रहेगा, इसकी कोई गारण्टी नहीं है। सन्दर्भ-परिवर्तन से सत्य निर्णय और सत्यता का दावा करने वाले निर्णयों के बीच की रेखा बदलती रहती है। जो निर्णय आज किसी सन्दर्भ में सरलता का केवल दावा करता है, वह बदले हुए सन्दर्भ में कल सचमुच सत्य हो सकता है। अतः परिणाम अथवा उपयोगिता ही यहां भी सत्यता की अन्तिम कसौटी है। कोई भी verification अन्तिम नहीं हो सकता है। इसलिए कोई भी सत्य अन्तिम रूप से सत्य नहीं माना जा सकता है। निरपेक्ष सत्य कुछ भी नहीं है, जो कुछ है वह सापेक्ष सत्य ही है। अतः यह परिवर्तनवादी सिद्धान्त है। शाश्वत का इनकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं है।

जॉन डीवी-परम्परागत चिंतक तो व्यवहार को हेय समझने के आदि हो चुके थे, फलवाद जो एक ही सिद्धान्त के विभिन्न नाम हैं, को रोटी और मक्खन का दर्शन कह रहे थे, भारतीय पदावली में दाल-रोटी का दर्शन। जॉन डीवी ने इस प्रकार की समीक्षाओं का विरोध किया और कहा कि पीयर्स अथवा जेम्स का अभिप्राय दार्शनिक चिंतन को उपयोग की वस्तुओं तक सीमित करने की नहीं है। जब पीयर्स व्यावहारिक परिणामों की ओर संकेत करते हैं तो उनका अभिप्राय चिंतन के परिणामों की जांच के लिए ऐसी कसौटी खोजना होता है, जिससे मात्र भाषिक विवादों को शान्त किया जा सके। इस तरह हम देखते हैं कि व्यवहारवाद को और आगे बढ़ाने की इन्होंने कोशिश की है। अगर हम यह कहें कि व्यवहारवाद अथवा अर्थक्रियावाद का पूर्ण विकास डी.वी. के दर्शन में हुआ है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। ये पीयर्स और जेम्स के विचारों से काफी

प्रभावित नजर आते हैं और उनसे विकसित भी। इन्होंने भी माना है कि व्यावहारिक जीवन में प्रयोग करके ही किसी अनुभव या कथन की सत्यता की परीक्षा होनी चाहिए। सत्य वही है जो मानव जीवन के लिए उपयोगी हो। इनके अनुसार भी सत्य को अपरिवर्तनशील, स्थायी एवं निरपेक्ष नहीं कहा जा सकता है। यह परिवर्तनशील और सापेक्ष है। एस.सी. चटर्जी के शब्दों में “This distinction between truth and truth claim is not absolute. it is a matter of degree.” “True is the name for whatever idea starts the varification-process, useful is the name for its completed function in experience.”<sup>106</sup>



---

---

अध्याय-16

सत्यता का संवादिता सिद्धान्त

---

---

यहां यह बतलाना उचित प्रतीत होता है कि सत्य सम्बन्धी सिद्धान्तों में कितने प्रश्नों पर विचार किया जाता है। सत्य सम्बन्धी सिद्धान्तों में दो प्रश्नों पर विचार करना आवश्यक हो जाता है—(1) प्रमा अथवा सत्य ज्ञान के क्या लक्षण हैं? (2) इसकी परीक्षा अथवा जांच करने की प्रणाली अथवा विधि क्या है?

संवादिता-सिद्धान्त में भी इन्हीं दो प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करने की कोशिश की जाती है। आवश्यक है जो पदार्थ जैसा है, उसे उसी रूप में जानना ही यथार्थ या सत्य ज्ञान है। यथार्थ ज्ञान और उसके विषय में संवादिता रहना जरूरी है। उदाहरण के लिए कुदाल को कुदाल समझना सत्य ज्ञान है, उसी तरह रस्सी को रस्सी समझना सत्य ज्ञान है एवं कुदाल को कड़ा ही समझना और रस्सी को सर्प समझना असत्य ज्ञान है। वस्तुवादी विचारक इसी सिद्धान्त को अपनाते हैं। इनका कहना है कि ज्ञान तथा तथ्य के बीच संवाद अथवा संगति सत्यता की केवल परिभाषा नहीं है, बल्कि उसकी कसौटी भी है।

यद्यपि सभी वस्तुवादियों ने इस सिद्धान्त का समर्थन किया है पर इस सम्बन्ध में जो विवेचन प्रस्तुत किया गया है, उसमें भिन्नता भी है। इसी भिन्नता को ध्यान में रखते हुए एस.सी. चटर्जी ने द प्रोब्लेम ऑफ फिलॉसफी में लिखा है—“In the old school of comon-sense or naive realism. We have the theory that truth consists in a direct correspondence between knowledge and reality and that allow normal perceptions are true in this sense the copy theory of ideas as a form of the correspondence theory of truth seems to be revived in a modified form in modern critical realism. According to it these are three distinct factors in any knowledge namely mental status, data and object.”

फिर भी सभी वस्तुवादी विचारक यह मानते हैं कि वस्तु का अस्तित्व ज्ञाता से स्वतंत्र है। किसी ज्ञान की सत्यता जांचने के लिए उसे उस कसौटी पर कसते हैं कि वह वास्तविकता अर्थात् तथ्य से मेल खाता है कि नहीं। इस प्रकार ज्ञान का वास्तविकता अथवा तथ्य के साथ मेल सत्यता की परिभाषा तथा जांच की विधि दोनों है। एच.एम. भट्टाचार्य ने बतलाया है कि वस्तुवादियों के सभी अवस्थाओं में प्रत्याय और तथ्य के बीच संवादिता लागू होता है। उन्हीं के शब्दों में “In Realism in all its phases truth seems to be a case of correspondence between ideas and facts, between the subjective and the objective.”

तथ्य भौतिक तथा मानसिक दोनों प्रकार के हो सकते हैं। बर्फ का टंडा होना, आग संताप का मिलना भौतिक तथ्य के और मेरा प्रसन्न अथवा दुःखी होना मानसिक जीवन से रहता है। मानसिक तथ्यों को ज्ञापित करने वाली प्रतिज्ञप्तियां, इस सिद्धान्त के अनुसार तभी सत्य होंगी, जब उनके द्वारा सूचित तथ्य मानसिक जगत् के यथार्थ अंग हों। यदि मैं सचमुच प्रसन्न हूँ तो यह

कथन कि 'मैं प्रसन्न हूँ' सत्य है। ग्रीक दार्शनिक अरस्तु ने भी सत्यता-असत्यता की इसी प्रकार परिभाषा दी थी। अतः यह कहना उचित ही है कि जिस प्रतिज्ञप्ति का संवादी तथ्य है, वह सत्य है तथा जिसका संवादी तथ्य नहीं है, वह असत्य है। सत्य अनुभव से स्वतंत्र नहीं है। एच.एम. भट्टाचार्य ने नव्य वस्तुवादियों के मत को दर्शाते हुए लिखा है कि "According to the neo-realist though the object is not independent of experience yet it is for all practical purpose the other of knowledge and therefore knowledge which is always an immediate apprehension of the object is, from the epistemic point of view, always true, and there seems to be no provision for the distinction between truth and error in knowledge."<sup>107</sup>

अनुभव और तथ्य, आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ सम्बन्धी अवधारणाओं को एवं सत्य के कॉपी सिद्धान्त की चर्चा करते हुए भट्टाचार्यजी ने बतलाया है कि "In Dealism in all its phases the facts or the objects, a correspondence to which reduces our ideas to truth, are evidently independent of the ideas and are a multiplicity of entities each of which may have for more qualities and aspects than are revealed in the correspondence. The copy theory of truth tells us nothing definitely about this."<sup>108</sup>

'मीठापन' एक प्रत्यय है। यह सत्य अथवा असत्य नहीं हो सकता है। किन्तु जब हम इससे यह प्रतिज्ञप्ति बनाते हैं कि आम मीठा होता है, तो वह सत्य या असत्य कहा जा सकता है। इस प्रकार यह समझना गलत है कि संवादिता-सिद्धान्त के मुताबिक सत्यता प्रत्ययों तथा वस्तुओं के बीच संवादिता में निहित है।

सभी वस्तुवादी ही नहीं प्रायः सभी अनुभववादी विचारक इस सिद्धान्त के समर्थक हैं। अनुभववादियों के अनुसार प्रतिज्ञप्तियां तभी सत्य होती हैं जब इनके संवादी तथ्य वास्तविक जगत् में भौतिक या मानसिक जगत् में उपस्थित हो।

बीसवीं शताब्दी के वस्तुवादी विचारकों में जी.ई. मूर और बी. रसेल संवादिता सिद्धान्त के प्रमुख समर्थक हैं। जी.ई. मूर सत्यता के प्रतिज्ञप्ति का विशेषण अथवा गुण मानते हैं एवं प्रतिज्ञप्ति तथा सत्य होती है जब इसके संवादी के तथ्य वास्तविक होते हैं।

ज्ञान वस्तुनिष्ठ कारणों का संयोग है। और ज्ञान सत्य तब होता है जब यह वास्तविकता का संवादी होता है एवं असत्य तब होता है, जब यह असंवादी होता है।

यह सिद्धान्त भी निर्दोष नहीं है। मूर स्वयं ऐसे शब्दों में नये अर्थ देने के दोषी परिलक्षित होते हैं, जिनके अर्थ साधारण बुद्धि द्वारा गृहीत और प्रचलित

अर्थ से भिन्न हैं। संप्रत्यय और सामान्य को एक ही अर्थ में प्रयोग करना उन्हीं की पद्धति के अनुसार ठीक नहीं है। उन्होंने स्वयं कहा है कि मैं इस संबंध में श्री ब्राड से पूर्णतः सहमत हूँ। मैंने प्रिसिपिया एथिका में जो मत प्रस्तुत किया था, अब मुझे अत्यन्त मूर्खतापूर्ण एवं असंगत प्रतीत होता है। (The Philosophy of G.E. Moor, Ed. by Shilop, p. 581 में भी उपर्युक्त बातों की सम्पुष्टि की गई है।) अन्य सिद्धान्तों की तरह ही यह भी आलोचना का विषय बना हुआ है। आलोचकों ने निम्नलिखित दोष दर्शाने की कोशिश की है, वे हैं—

(1) वस्तुवादियों में लोकप्रिय (Naive) वस्तुवाद (Realism) की सबसे बड़ी दुर्बलता है कि स्वप्न-विपर्यय विभ्रम आदि भ्रांतिपूर्ण अनुभूतियों की व्याख्या नहीं कर सकता है।

(2) प्रत्यय-प्रतिनिधित्ववाद के अनुसार ज्ञान के निर्माण में तीन तत्त्व काम करते हैं—मन, प्रत्यय और पदार्थ। यहाँ प्रत्यय प्रतिनिधि का कार्य करता है। यहाँ ज्ञान की सत्यता का अर्थ चेतना में उपस्थित प्रतिनिधि तथा बाह्य वस्तु के बीच संवाद अथवा समरूपता का प्रत्यक्ष में होता है।

(3) मानसिक प्रतिभा और भौतिक वस्तु (रोग) के साथ प्रत्यंश-संवाद किस प्रकार संभव है? भौतिक वस्तु पीली, लाल, हरी, गोल आदि हो सकती है, परन्तु मानसिक प्रत्ययों के सम्बन्ध में ऐसा सोचा भी नहीं जा सकता है।

(4) मूर ने संवादिता के संप्रत्यय को अपरिभाष्य अविश्लेष्य कहा है। ऐसी स्थिति में सत्यता को ही अपरिभाष्य अविश्लेष्य क्यों नहीं कहा जाए? संवादिता को अपरिभाष्य मानने की अपेक्षा सत्यता को ही अपरिभाष्य मानना अधिक सुविधाजनक होता है।

मनुष्य की बुद्धि सीमित है और ज्ञान समष्टि की निर्णय से संगत प्रतिज्ञप्ति बनाना मानव क्षमता पर है। इसीलिए इस सिद्धान्त के अनुसार सभी मानवीय प्रतिज्ञप्तियाँ अंशतः सत्य एवं अंशतः असत्य होती हैं।

---

---

अध्याय-17

सत्यता का सामंजस्य सिद्धान्त

---

---

सत्यता के चारों सिद्धान्तों में सत्यता का सामंजस्य सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह सिद्धान्त अन्य सिद्धान्तों की अपेक्षा अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार सत्यता का प्रतिमान संसक्तता (coherenfce) या सामंजस्य है। कोई भी ज्ञान एक तंत्र (system) के सन्दर्भ में ही सत्य या असत्य हो सकता है। ब्रैडले ने ठीक ही लिखा है, “कोई भी सत्य ऐसा नहीं, जो सम्पूर्णतः सत्य है, उसी प्रकार कोई भी त्रुटि ऐसी न होगी जो पूर्णतः मिथ्या है।” अब स्पष्ट है कि यदि इस पूरे तन्त्र के साथ उसकी संगति है तब तो वह सत्य कहा जायेगा, अन्यथा असत्य। कोई भी ज्ञान जब इस पूरे तंत्र के साथ संगत हो अथवा इस तंत्र के अन्य अंशों तथा पहलुओं के साथ इसकी परस्पर निर्भरता हो तभी वह ज्ञान सत्य कहा जा सकता है। किसी तन्त्र या उसके अन्य अंशों तथा पहलुओं से अलग होकर कोई ज्ञान सत्य नहीं माना जा सकता है। सत्यता, असत्यता की समस्या सामंजस्यवादी कवियों के अनुसार प्रतिज्ञप्तियों की निजी व्यक्तिगत समस्या न होकर पारिवारिक समस्या है। किसी व्यक्ति को उसके परिवार के सन्दर्भ से पूर्णतः अलग करके बिल्कुल अकेले वैयक्तिक इकाई में लेकर पिता, चाचा या दादा आदि रूप में नहीं कहा जा सकता है। इसी तरह कोई प्रतिज्ञप्ति अपने तंत्र से बिल्कुल अलग होकर सत्य अथवा असत्य नहीं कहा जा सकता है। इसके विपरीत संवादितावाद किसी प्रतिज्ञप्ति को उसकी वैयक्तिक इकाई में लेकर देखता है कि वह अपने द्वारा बोधित तथ्य से संवादी अर्थात् सत्य है या नहीं। इस सिद्धान्त (सामंजस्य सिद्धान्त) के समर्थक, स्पिनोजा, लाइबनीज, हीगेल, ब्रैडले, बोसान्क्वेट, जोसाकिम आदि पाश्चात्य बुद्धिवादी एवं प्रत्ययवादी और भारत में वेदांती विचारक हैं।

सत्यता का सामंजस्य सिद्धान्त विशेषकर प्रत्ययवादियों अथवा अध्यात्मवादियों के द्वारा स्थापित एवं समर्थित सिद्धान्त है। एस.सी. चटर्जी ने लिखा है कि “The coherence theory of truth occupies an important place in idealistic philosophy, especially in Bosanquet. It has also been accepted by certain logical positivists like Neurath and Hampel, But this is a fundamental difference between the Hegelian and the logical positivist form of the coherence them.”

इस सिद्धान्त (सामंजस्यवाद) के अनुसार सत्यता में मात्रा-भेद (degree of truth) किया जा सकता है। सामंजस्य स्वयं एक ऐसा गुण है, जिसमें मात्रा भेद की कल्पना संभव है। यदि ‘क’ अपने तन्त्र की अधिक प्रतिज्ञप्ति में संगत है, वो निश्चित ही ‘क’, ‘ख’ की अपेक्षा अधिक सत्य होगा। मनुष्य द्वारा रचित कोई भी प्रतिज्ञप्ति पूर्णतः सत्य नहीं कही जा सकती है।

इस सिद्धान्त के सभी समर्थकों ने संवादिता को प्रतिज्ञप्तियों या विचारों और तथ्यों के बीच का सम्बन्ध वस्तुओं के बीच नहीं माना है। प्रत्यय सत्य या असत्य नहीं कहे जा सकते हैं। जब प्रत्ययों को सम्बद्ध करके प्रतिज्ञप्तियां बनाते हैं, तभी सत्यता या असत्यता का प्रश्न उठता है।

बोसान्क्वेट, जोआकिम आदि निरपेक्ष प्रत्ययवादियों के अनुसार मनुष्य एक सर्वसमावेशी सम्पूर्ण है, जिसके अन्दर सभी विविधताएँ सम्मिलित हैं, फिर भी उसका स्वरूप एक शुद्ध इकाई का स्वरूप है। विविधताएँ इस सम्पूर्ण शुद्ध इकाई से अलग रहकर अवास्तविक हो जाती हैं। साधारण मानवीय ज्ञान एक-एक वस्तु का उसके पृथक् विशिष्ट रूप में ज्ञान होने के कारण असत्य माना जाता है। वास्तविकता का, उसकी शुद्ध एक रूप समग्रता में दिया गया ज्ञान ही सत्य कहा जा सकता है। यह ज्ञान निरपेक्ष ज्ञान है। मनुष्य का ज्ञान आंशिक एवं सापेक्ष होने के कारण असत्य है। केवल निरपेक्ष ज्ञान ही सत्य होता है।

किन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोण से मानवीय ज्ञान अंशतः सत्य और अंशतः असत्य होता है। जो ज्ञान सापेक्षतः अधिक समावेशी, अधिक व्यापक एवं अधिक व्यवस्थित होगा, वह अधिक संगत माना जायेगा तथा उसे अधिक सत्य कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए मनुष्य से ईश्वर अधिक सत्य है। ब्रैडले आदि विचारकों ने इस तथ्य को स्वीकार किया है। उसी प्रकार सापेक्षता कम समावेशी व्यवस्थित ज्ञान सापेक्षतः कम सत्य कहलायेगा। इस प्रकार सत्यता में मात्रा भेद संभव है।

तार्किक अनुभववादियों में न्यूरेथ एवं डेम्पेल जैसे विचारकों ने भी इस सिद्धान्त (सामंजस्यवाद) का समर्थन किया है। इनके अनुसार किसी भी प्रतिज्ञप्ति की सत्यता सामंजस्य पर आधारित है। किन्तु यह सामंजस्य किसी परिकल्पनात्मक ज्ञान के साथ है। यह मत कुछ अधिक सुबोध, सरल तथा साफ-सुथरा प्रतीत होता है।

भारतीय दर्शन में अद्वैत वेदान्त दर्शन में भी इस सिद्धान्त का समर्थन पाते हैं। इनके अनुसार अबाधित होना ही सत्यता का प्रमुख लक्षण है। इसीलिए एस.सी. चटर्जी ने प्रोब्लेम ऑफ फिलॉसफी में लिखा है—“The Vedanta view of truth as uncontradicted experience logically implies the coherence theory of truth.”

वेदान्तियों को सत्यता-संबंधी सिद्धान्त को अनिर्वचनीय ख्यातिवाद भी कहा जाता है। इनके अनुसार किसी भी ज्ञान अथवा अनुभव के सामंजस्य की जांच तभी हो सकती है, जब उसका सम्बन्ध अन्य ज्ञान या अनुभवों से हो। इस प्रकार प्रत्येक ज्ञान खंड की सत्यता व अन्य ज्ञानखंडों से संगति पर आधारित है। केवल आत्मा का ज्ञान अर्थवाद रूप से स्वतः प्रमाणित, स्वतःसत्य होता है।

यह सिद्धान्त यद्यपि संवादितावाद की प्रमुख कठिनाइयों से मुक्त है। फिर भी इसे दोष मुक्त नहीं कहा जा सकता है। इसके निम्नलिखित दोष हैं—इस सिद्धान्त का मुख्य संप्रत्यय संगति अथवा सामंजस्य है। किन्तु कोई भी सामंजस्यवादी इस प्रकार (संगतिका) समुचित व्याख्या अथवा परिभाषा नहीं दे पाये हैं।

किसी भी प्रतिज्ञप्ति को एक साथ ही सत्य तथा असत्य कहना व्याघातक अथवा विरोधपूर्ण पाते हैं। अतः सत्यता में मात्रा भेद करना अस्वाभाविक एवं अनुचित है। इसीलिए भट्टाचार्य जी ने बतलाया है कि वेदान्तियों की दृष्टि में पूर्ण में भेद या मात्राभेद की बात करना सर्वथा अनुचित है। इसमें शुद्ध एकता अथवा अद्वैत ही सत्य है और अनेकता मिथ्या है। इसीलिए इन्होंने लिखा है—“The Advaitist.....A pure unity cannot admite of any degree either of the truth or of reality. The doctrine of Adhyāsa tells us that our empirical world and our experiences of it are but products of illusion, so that neither experiene, nor its object, can have any truth or reality when viewed from the standpoints of ultimate Truth and Reality.”<sup>109</sup>

इस सम्बन्ध में वस्तुनिष्ठ प्रत्ययवादियों की चर्चा करते हुए भट्टाचार्य जी ने बतलाया है कि “In the objective Indialism of Hegel and of Bradley and Bosanquet we have a more plausible view of knowledge in its relation to truth. In Hegelian Idealism which is objective Reality is a rational system.” हीगेल से ब्रैडले एवं अद्वैत वेदान्तियों का मत अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। जी.ई. मूर ले उपर्युक्त मत की आलोचना करते हुए बतलाया है कि यदि ज्ञान का विषय ज्ञान की प्रक्रिया से बाह्य कोई अन्य पदार्थ नहीं है तो स्वयं ज्ञान व आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती है, क्योंकि ज्ञान के बिना ज्ञान का स्वयं अस्तित्व नहीं माना जा सकता और साथ ही आत्मा के बिना आत्मा का अस्तित्व भी अस्वीकार्य है। और अगर पदार्थ के स्वतंत्र अस्तित्व को प्रत्ययवादी अस्वीकार करते हैं तो वे एक आत्मघाती सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। इतना ही नहीं मूर का कहना है कि प्रत्ययवादियों के मुताबिक “सभी संबंध आन्तरिक होते हैं”। मूर के अनुसार यह तर्कवाक्य निश्चित रूप से असत्य है।



---

---

अध्याय-18

अरस्तु के कार्य-कारण सम्बन्ध

---

---

कार्य-कारण-नियम की विवेचना करना दर्शन और विज्ञान दोनों के लिए एक ही समान महत्त्वपूर्ण है। खासकर भौतिक विज्ञान के सभी अनुसंधान प्रायः कार्य-कारण-नियम के आधार पर अवलम्बित हैं। दर्शन में इसकी विवेचना अरस्तु और प्लेटो के पूर्व भी की जा चुकी है किन्तु अरस्तु के दर्शन में इसकी विशद् विवेचना की गई है। अरस्तु ने कारण को चार भागों में बाँटा है— (1) उपादान कारण (2) निमित्त कारण (3) स्वरूप कारण और (4) लक्ष्य कारण। बाद में दो को उपादान एवं आकारिक कारण के अन्तर्गत ले लिया गया है और तब इनकी दृष्टि में इस संसार की प्रत्येक वस्तु द्रव्य और स्वरूप का सम्मिश्रण है। इस जगत् में द्रव्य और स्वरूप को कभी पृथक् नहीं किया जा सकता है। सी.ई.एम. जोज ने ठीक ही लिखा है कि "The distinguishing structure of a thing Aristotle called its form, the stuff of which it is made, its matter. This is not to say that the matter and form of a thing are somehow combined together to make the thing, as dough and currants are combined to make a pudding. The two are indissidubly united, and were so from the first. The form, in fact, is manifested and expressed in and through every part of the matter."<sup>110</sup> अर्थात् मूल सत्ता, द्रव्य और स्वरूप की है। फिर भी चतुर्थ कारण की चर्चा करना आवश्यक प्रतीत होता है। चार कारण की विवेचना करते हुए सी.ई.एम. ने लिखा है कि "There is, then, first, matter or "the material cause" of the thing. There must, that is to say, be the germ from which the oak grows, the stone on which the sculptor works. Secondly, there is the law according to which the thing develops, which Aristotle calls the form or "the formal cause". The acorn must develop in accordance with a definite tendency of growth, a tendency, that is to say, to develop in a way characteristic of oaks and not of elms; there must be the form or idea of the statue present in the sculptor's mind directing the activities of his chisel. Thirdly there is the agent, whose initial impulse started the whole process, called by Aristotle the "efficient cause"..... in the Sculptor's mind constitutes the conclusion of his efforts. This is known as "the final cause".<sup>111</sup> दरअसल अरस्तु के अनुसार सामान्य (Form or universal) बुद्धि की कोरी कल्पना नहीं बल्कि वही वास्तविक सत्य है, और वहीं तक पहुँचना मनुष्य का लक्ष्य है। सामान्य वस्तुगत है अर्थात् विभिन्न वस्तुओं में अनुगत या अनुस्यूत है। सामान्य की सत्ता वास्तविक होते हुए भी व्यक्तियों से या वस्तुओं से पृथक् नहीं है। यह उनके पार या ऊपर नहीं है, यही वास्तविक सामान्य है। यह अनित्य वस्तुओं का नित्य स्वरूप है। यह भेद में अनुस्यूत अभेद है और इसी को प्राप्त करना जीवन का लक्ष्य है। विकास प्रक्रिया की चर्चा करते हुए जोड साहेब ने उचित ही लिखा है कि "The development in the acorn stops when it has become a fully matured oak, and Aristotle conceives of this achievement of maturity as

constituting the goal or end which the whole process is seeking to reach. Similarly with the completed statue.”

वस्तुतः अरस्तु का परिवर्तन न हिराक्लीटस की तरह है और न पार्मेनाइडीज की तरह ही। पार्मेनाइडीज की दृष्टि में परिवर्तन भ्रम है जबकि अरस्तु की दृष्टि में न्याय-वैशेषिक की तरह परिवर्तन वास्तविक है। इन्होंने भी न्याय-वैशेषिक दार्शनिकों की तरह सामान्य और विशेष की वास्तविक सत्ता को स्वीकार किया है। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं लगाया जा सकता है कि इनका कार्य-कारण सम्बन्ध प्लेटो की अवधारणा से बिल्कुल विपरीत है। इनका कहना मात्र यह है कि वस्तुतः तत्त्व विशेष व्यक्ति ही है। यह सदा एक और वही रहता है।

सामान्य को व्यक्तिरूपी तत्त्वों के अनुगत रहने के कारण, गौण रूप से तत्त्व कहा जाता है। इन दो विरोधी धाराओं का समन्वय अरस्तु नहीं कर सके हैं। एक ओर तो प्लेटो के सामान्य का खण्डन करने के लिए उन्होंने व्यक्ति को ही वास्तविक तत्त्व माना और दूसरी ओर प्लेटो से ही प्रभावित होकर उन्होंने सामान्य को ही एकमात्र शुद्ध तत्त्व कहे जाने का अधिकार दे दिया है। शायद उनका तात्पर्य यही था कि व्यक्तियों से भिन्न और परे सामान्य की सत्ता नहीं मानी जा सकती है। कुछ भी हो अरस्तु इसका समुचित समाधान नहीं कर सके हैं। इन्होंने potentiality और actuality के भेद को भी समाप्त नहीं किया और इसके चलते ये द्वैतवादी बन गये हैं।

अरस्तु की दृष्टि में द्रव्य विशेषता का जनक है। यही एक तत्त्व निर्माता है। यही परिणाम और गतिशील होते हुए भी वही बना रहता है। द्रव्य जड़ता का प्रतीक है। इस संसार की प्रत्येक वस्तु द्रव्य जड़ता का प्रतीक है। इस संसार की प्रत्येक वस्तु द्रव्य और स्वरूप का सम्मिश्रण है फिर प्लेटो के एकवाद का स्वयं खण्डन ही जाता है। उधर उससे बचना ईमानदारी नहीं है। वस्तुतः द्वैतवादियों के द्वारा प्रस्तुत कार्य-कारण-नियम में जो त्रुटियां बतलाई गयी हैं उससे अरस्तु भी मुक्त नहीं हो पाये हैं। इनके तत्त्व मीमांसीय एवं ज्ञान मीमांसीय दृष्टिकोण में द प्रोब्लेम ऑफ चेंज की अवधारणा को दर्शाते हुए सी.ई.एम. जोड ने ठीक ही लिखा है कि “In view of the importance of this conception both in its own right and as an explanation of the fact of change, it will be desirable to consider it in rather greater detail. First, however, it will be convenient to round off the brief sketch of some of the leading notions of Aristotle's metaphysics contained in this and in the preceding chapter by an account of his doctrine of the four causes, which Aristotle put forward as constituting a final explanation of the present world order.”<sup>112</sup>

इन्हीं मान्यताओं के कारण ईश्वर फर्नीचर बनाने वाले कारीगर अथवा बढई के समतुल्य बनकर रह गया है। वह प्लेटो और शंकर के ईश्वर की तरह सर्वस्व नहीं देखते हैं। इसीलिए इनके तर्कशास्त्र की आलोचना आधुनिक तर्कशास्त्रियों ने की है। सी.ई.एम. जोड ने लिखा है, “Of recent years, however, Aristotelian Logic has been subjected to serious criticism.”

---

---

अध्याय-19

मिल का कारण-सिद्धान्त

---

---

कार्य—कारण—नियम की विवेचना दर्शन और विज्ञान दोनों के लिए एक ही समान महत्त्वपूर्ण है। खसकर भौतिक विज्ञान के सभी अनुसंधान प्रायः कार्य—कारण नियम के आधार पर अवलंबित है। दर्शन में इसकी विशद् विवेचना मिल के सिद्धान्त में पाते हैं। मिल का कहना है कि संसार की घटनाओं के पीछे एक—एक नियम काम कर रहा है, वह है प्रत्येक घटना, जो प्रारंभ होती है, उसका अवश्य ही कुछ न कुछ कारण होता है। इसी को कार्य—कारण का सार्वभौम नियम कहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि संसार की घटनाएँ पृथक्—पृथक् और सब स्वतंत्र नहीं होती बल्कि आपस में एक—दूसरे से अटूट सम्बन्ध द्वारा बंधी रहती हैं। जो घटना इस समय हो रही है, उसके पूर्व कुछ विशेष परिस्थितियाँ उपस्थित होती हैं, उनके बिना वह नहीं हो सकती है। उदाहरण के लिए ग्रहण का लगना ज्वारभाटा का होना, ऋतु का बदलना, वर्षा का होना और पौधों का उगना, इन सभी कार्यों के होने के पूर्व कुछ विशेष परिस्थितियों का होना जरूरी है, जिनके बिना ये हो ही नहीं सकते और जिनकी उपस्थिति होने पर इनका न होना भी असंभव है। मिल ने कारण की परिभाषा देते हुए कहा है—कि “कारण घटना का सदैव ही पूर्ववर्ती होता है अथवा उसकी पूर्ववर्ती घटनाओं से संबंधित रहता है। जिस पर वह घटना नियमित एवं अनौपाधिक रूप से काल के रूप में आधारित होती है।”

जे.एस. मिल के कारणता—सिद्धान्त एवं डेविड ह्यूम के कारणता—सिद्धान्त में बहुत कुछ समानता है। मिल ने ह्यूम के कारणता सम्बन्ध विचारों को अपने तरीके से विकसित करना चाहा है। मिल का यह सिद्धान्त वैज्ञानिकों और साधारण व्यक्तियों के लिए भी काफी महत्त्वपूर्ण माना गया है।

मिल के अनुसार कारणता सिद्धान्त की तीन मान्यताएँ दीख पड़ती हैं—

(क) प्रत्येक घटना का कारण होता है।

(ख) समान कारण से समान कार्य उत्पन्न होता है तथा

(ग) कारण हमेशा कार्य का पूर्वगामी अथवा पूर्ववर्ती होता है।

उपर्युक्त तीनों बातों में मिल एवं ह्यूम एक समान दीख पड़ते हैं। मिल का कहना है “कारण कार्य की एक पूर्ववर्ती अवस्था है, जिसके होने पर नित्यत और निरूपाधित रूप से कार्य उत्पन्न होता है।”

उपर्युक्त तीन बातों में मिल एवं ह्यूम दोनों एक दीख पड़ते हैं।

मिल का यह भी कहना है कि कारण कोई एक ही पूर्ववर्ती घटना नहीं है। यह अनेक पूर्ववर्ती घटनाओं का समूह है। इन अनेक पूर्ववर्ती घटनाओं में मिल शर्त या उपाधि कहते हैं। इस प्रकार कारण अनेक शर्तों (भावात्मक एवं निषेधात्मक) का योगफल है। “Cause is the sum-total of the conditions Positive and Negative taken together.”

(1) भावात्मक उपाधियाँ वे हैं जिनकी उपस्थिति से कोई कार्य होता है। मान लें कि किसी ने एक आदमी को बन्दुक से मार दिया। इस उदाहरण में आदमी के मरने का कारण अनेक कारणांशों का योग है। इनमें भावात्मक

कारणांश ये हैं—बंदूक की नली का ठीक होना, कारतूस को यथास्थान रखना, बारूद का सूखा होना, घोड़े को दबाना इत्यादि। इन कारणांशों के रहने से ही कार्य (आदमी का मरना) का होना संभव हो सकता है। यानि यह वह कारणांश है, जिसकी उपस्थिति से कार्य पैदा होता है।

(2) अभावात्मक कारणांश—यह कारण का वह अंश है, जिसकी अनुपस्थिति में कार्य होता है। इनका नहीं रहना ही कार्य की उत्पत्ति में सहायक होता है। किसी कार्य का वह परिस्थिति कारण नहीं हो सकती जो कार्य के न होने पर भी उपस्थित हो। अब हमें यहाँ '2' का कारण ढूँढने के लिए अपनी सामग्री तैयार करनी है। कारण के उपर्युक्त दो सिद्धान्त बतलाते हैं कि हमें दो बातें करना चाहिए।

(1) जहाँ—जहाँ '2' उपस्थित है, उन स्थितियों की आपस में तुलना की जाय (11)<sub>2</sub> के साथ घटित होने वाली उन परिस्थिति की तुलना उन दूसरी परिस्थितियों से की जाय, जिनमें अन्य बहुत से पहलुओं में समानता है। पर '2' नहीं है। इसी के लिए पाँच विधियाँ का उल्लेख किया गया है, वे हैं—

- (1) अन्वय—विधि
- (2) व्यतिरेक विधि
- (3) अन्वय—व्यतिरेक विधि
- (4) सह—परिवर्तन विधि
- (5) अवशेष—विधि।

अतः कारण सम्बन्ध का पता लगाना ही वैज्ञानिक आगमन का लक्ष्य है। इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिये आगमन तर्कशास्त्र में भिन्न—भिन्न रीतियाँ बतलाई गयी हैं—इनमें उपर्युक्त प्रायोगिक विधि भी अपना महत्त्व रखता है। मिल की दृष्टि में यह निराकरण की विधि है। अवस्थाओं को अलग—अलग करना ही निराकरण है।

---

---

अध्याय-20

ह्यूम का कारण-कार्य सम्बन्ध

---

---

ह्यूम के दर्शन का निष्कर्ष है—‘सर्वम् क्षणिकम्’। इसलिए इसे शून्यवाद भी कहा गया है। देकार्त, लॉक और बर्कले ने दर्शन की विशाल आधुनिक इमारत खड़ी की थी, पर ह्यूम ने उसकी नींव को हिला दिया है। उनके हथौड़े के आघात से वह इमारत ध्वस्त होकर श्मशान बन गयी है। पर यहाँ आपत्ति की जा सकती है कि ह्यूम गणितिक ज्ञान को असंदिग्ध मानते थे और इसलिए दर्शन की इमारत के खण्डहर में अभी भी कुछ संरक्षित भाग खड़ा दृष्टिगत हो रहा है। ह्यूम के लिए कारण—कार्य का सम्बन्ध विशेष स्थान रखता है क्योंकि इसका सम्बन्ध यथार्थ पदार्थ से रहता है। फिर इसी के आधार पर साक्षात् प्रत्यक्ष से परोक्ष के संभाव्य प्रत्यक्षों की ओर हम प्रगति करते हैं और प्रत्यक्ष सम्बन्धी सार्वभौमिक नियमों की स्थापना करते हैं। जैसे—हम नियम बनाते हैं कि सभी वस्तुओं में गुरुत्वाकर्षण की शक्ति है या मलेरिया कुनैन से छुटता है। यदि वस्तु और गुरुत्वाकर्षण में संघर्ष हो तो हमारा नियम सत्य ठहरता है, अन्यथा नहीं। विज्ञानों में नियमों की स्थापना की जाती है और नियम का सम्बन्ध कारण—कार्य से है। यदि कारण—कार्य की धारणा सिद्ध ठहरती है तो वैज्ञानिक नियम भी सत्य ठहरते हैं, नहीं तो वे भी संदेहात्मक ही ठहरेंगे। यदि कारण—कार्य का सम्बन्ध सही हो तो इसे प्रत्यक्ष पर आधारित होना चाहिए।

अतः हमें देखना है कि यह किस पर आधारित है। क्या कोई ऐसा गुण वस्तुओं में है, जिसकी वजह से हम कहते हैं कि वे कारण हैं? पर ऐसा कोई गुण हमें नहीं दीख पड़ता है, क्योंकि हम विभिन्न वस्तुओं को कारण समझते हैं, जिनमें कोई भी गुण सामान्य रीति से नहीं पाये जाते हैं। अब यदि वस्तुओं में कोई ऐसा गुण नहीं है, जिसकी वजह से हम उन्हें कारण समझते हैं, तो शायद वस्तुओं के बीच ऐसा सम्बन्ध होगा, जिसकी वजह से हम एक वस्तु को दूसरी वस्तु का कारण समझते हैं। पहली बात है कि जिन वस्तुओं को हम कारण—कार्य समझते हैं, उनमें सामीप्य का सम्बन्ध पाया जाता है। जैसे, सूर्य और ताप, ज्वाला और दाह इत्यादि। फिर कारण कार्यवाली वस्तुओं में पूर्वापर (Sucession) सम्बन्ध पाया जाता है। कारण पूर्व होता है और तब उसके बाद कार्य आता है। अतः सामीप्य और पूर्ववर्तिता (Priority) दो घटनाओं के बीच ऐसे संबंध हैं, जो कारण—कार्य की धारणा में मौजूद कहे जा सकते हैं। इन दो सम्बन्धों को छोड़कर तीसरा महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध भी इनमें मौजूद—समझा जाता है और वह है शक्ति या अनिवार्य लगाव (Power or necessary connection)। कारण में समझा जाता है कि कोई एक शक्ति है, जिस पर उत्पादक शक्ति या अनिवार्य लगाव को आधारित रखा जा सकता है? यदि हम कैरम या बिलिअर्ड की गोटियों में कारणात्मक लगाव को देखें तो पाते हैं कि एक गोटी में दूसरी गोटी के धक्के से गति उत्पन्न होती है। परन्तु हम धक्का देने वाली और धक्का खाने वाली गोटी से कोई शक्ति निकलकर धक्का खाने वाली गोटी में घुस जाये। कारण कार्य की धारणा में उत्पादक शक्ति तथा अनिवार्य लगाव को ही मुख्य लक्षण माना जाता है। परन्तु उन्हें हम किसी भी प्रत्यक्ष पर आधारित नहीं



पाते हैं। अब शायद कारण-कार्य की समस्या का समाधान हो जाय, यदि हम इन दो निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दें—

(1) हमारे लिये यह कहना क्यों जरूरी हो जाता है कि बिना कारण के कोई भी कार्य की धारणा नहीं हो सकती है?

परन्तु एक बात ध्यान देने योग्य है, वह यह है कि यद्यपि पुनरावृत्ति से वस्तुगत गुणों का निर्माण नहीं हो सकता है तो भी इसका विशेष प्रभाव हमारे मन पर पड़ सकता है। (A constant conjunction can never produce a new quality in the object, but it produces an effect on the mind) इसका प्रभाव है कि वस्तुओं के नित्य संयोग से हमारे अन्दर मानसिक आदत हो जाती है, जिसकी वजह से यदि एक वस्तु हमारे सामने आये तो हम दूसरी वस्तु की प्रतीक्षा करने लगते हैं।

यदि आग और ताप बार-बार हम अनुभूत करते हों, तो हमारे अन्दर मानसिक प्रतीक्षा की ऐसी आदत हो जाती है कि आग को देखते ही हम ताप की कल्पना करने लगते हैं। अतः कारण-कार्य के अनिवार्य लगाव का सम्बन्ध वस्तुनिष्ठ नहीं, परन्तु आत्मनिष्ठ (subjective) है। हमारे अन्दर ऐसी बाध्यता आ जाती है कि एक वस्तु को देखकर हम अवश्य ही दूसरी वस्तु की प्रतीक्षा करने लगते हैं।

यदि हम कारण-कार्य के सम्बन्ध की उत्पादन प्रक्रिया पर ध्यान दें तो इसमें दो अंग देख पाते हैं, अर्थात् घटनाओं के बीच नित्य संयोग का होना और फिर सहचार नियमों से संचालित मानसिक कल्पना में अनिवार्य प्रतीक्षा का होना। परन्तु यदि ह्यूम की व्याख्या को मान लें तो वास्तव में वह नहीं आयेगा। इसलिए वैज्ञानिक नियम, जो वस्तुगत सम्बन्धों पर आधारित हैं, कभी भी असंदिग्ध नहीं ठहर सकेंगे। यही कारण है कि ह्यूम की विचारधारा को संदेहवाद कहा जाता है। ह्यूम कार्य-कारण-सम्बन्ध की अवधारणा का निषेध नहीं करते हैं बल्कि उनका कहना है कि इसकी जानकारी न बुद्धि से संभव है और न अनुभव से अनिवार्यता और सार्वभौमिकता का ज्ञान संभव हो सकता है। इसीलिए सी.ई. एम. जोड ने लिखा है कि "They would, therefore, be inclined to agree with Hume that the only thing that distinguishes a purely temporal sequence "this after that" from a causal sequence "this because of that" is the greater regularity of the latter....but that we do not say "night is the cause of day"..... good example of what is commonly called causal connection."<sup>113</sup> यही कारण है कि इमानुएल काण्ट ने भी माना है कि ह्यूम ने मुझे गहरी निद्रा से जगा दिया है। दर्शन के इतिहास में इनकी महत्ता को दर्शाते हुए सी.ई.एम. जोड ने बतलाया है कि "It is on these lines that a short modern statement of the sort of position which Hume sought to maintain would run. The position is, as I have already remarked, of very great importance in the history of philosophy and has subsequently been developed in various ways. I propose to give one or two examples of the

way in which Hume's position is capable of development, and has in fact been developed by modern philosophers."<sup>114</sup> फिर भी भौतिकवादी और वस्तुनिष्ठ प्रत्ययवादी विचारकों के साथ-साथ रसेल एवं मूर जैसे वस्तुवादियों ने इनकी कटु आलोचना की है। जैसे बर्कले का जड़वाद का खण्डन एक ऐतिहासिक घटना के रूप में माना जाता है, वैसे ही मूर के द्वारा अध्यात्मवाद का खण्डन एक महत्त्वपूर्ण घटना के रूप में देखा जाता रहा है। मूर की आलोचना बर्कले और ह्यूम जैसे आत्मनिष्ठ प्रत्ययवादियों पर अधिक चोट किया गया है। ओशो रजनीश ने भी बतलाया है कि यदि पश्चिम में ह्यूम अपने उद्देश्य में सफल हो जाता तो दुनियां में विज्ञान का जनाजा निकल जाता अर्थात् इनकी दृष्टि में भी ह्यूम एक असफल दार्शनिक सिद्ध हुए और विज्ञान का महत्व घटा नहीं बल्कि अधिक बढ़ गया है। व्ला.ई. लेनिन ने भी इन्हें छद्म वेश में पदार्थवादी बतलाया है। इनके द्वारा (ह्यूम के द्वारा) कारण के लिए खतरनाक शब्द का प्रयोग करना भी आपत्तिजनक है। रसेल ने ठीक ही कहा है कि "Even in his most skeptical chapter, in which he sums up the conclusions of book-1, he says : "Generally speaking, the errors in religion are dangerous; those in philosophy only ridiculous." He has no right to say this "Dangerous" is a causal word, and a sceptic as to causation cannot know that anything is "dangerous."<sup>115</sup> इतना ही नहीं ह्यूम अपने मौलिक संदेह को ही भूल जाते हैं। उनका संदेहवाद इनसिनसियर है चूंकि उसका निर्वाह ये नहीं कर सके हैं। इस सम्बन्ध में रसेल की पंक्ति उल्लेखनीय है— "In fact, in the later portions of the Treatise, Hume forgets all about his fundamental doubts and writes much as any other enlightened moralist of his time might have written. He applies to his doubts the remedy that he recommends, namely "carelessness and inattention." In a sense, his skepticism is insincere, since he cannot maintain it in practice. It has however this awkward consequence, that it paralyses every effort to prove one line of action better than another."<sup>116</sup>

इतना ही नहीं इन्होंने (जोड साहेब ने) इनके सम्बन्ध में यह भी बतलाता है कि "The growth of unreason throughout the nineteenth century and what has passed of the twentieth is a natural sequel to Hume's destruction of empiricism."<sup>117</sup>

---

---

अध्याय-21

भारतीय कार्य-कारण सिद्धान्त

---

---

भारतीय विचारकों ने इस विषय पर अपने-अपने ढंग से प्रकाश डाला है। यहां हम कुछ प्रमुख मतों का उल्लेख करेंगे।

बौद्धमत-बुद्ध ने कार्य-कारण-सिद्धान्त को प्रतीव्यसमुत्पाद (Theory of Dependent origination) कहा है। प्रतीव्यसमुत्पाद पद दो शब्दों के योग से बना है-प्रतीव्य और समुत्पाद। 'प्रतीव्य' का अर्थ है किसी वस्तु के उपस्थित होने पर (Depending) और 'समुत्पाद' का अर्थ है-किसी अन्य वस्तु की उपस्थिति (Origination)। इस तरह 'प्रतीव्य समुत्पाद' का शाब्दिक अर्थ हुआ-एक वस्तु के उपस्थित होने पर किसी अन्य वस्तु की उपस्थिति। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक घटना का एक कारण होता है और कार्य अपने कारण पर आश्रित रहता है। प्रत्येक वस्तु अपने बाद कुछ छोड़ जाती है। उदाहरण-'क' का कारण 'ख' और फिर ख का कारण 'ग' है। इस प्रकार कार्य कारण की एक शृंखला बन जाती है। बुद्ध ने इसे पंचकारिणी के द्वारा स्पष्ट किया है।

प्रतीव्यसमुत्पाद को सत्य मानने पर यह भी मानना आवश्यक हो जाता है कि बौद्धदर्शन दुःख के कारण में बारह कड़ियां (Steps) मानता है। कड़ी पर प्रतीव्यसमुत्पाद सिद्धान्त लागू होता है। यहाँ कार्य से कारण की ओर और फिर कारण से कार्य की ओर प्रस्थान किया जा सकता है। दुःख से प्रस्थान करके अविद्या (Ignorance) पर पहुँचते हैं। दुःख रूपी कार्य के कारण में बारह कड़ियां होने के कारण प्रतीव्यसमुत्पाद को 'द्वादश निदान' (The twelve links of suffering) भी कहते हैं। बुद्ध ने कहा कि दुःख के कारणों को यदि नष्ट कर दिया जाय तो दुःख भी नष्ट हो जाएगा। दुःख रहित अवस्था का नाम ही निर्वाण है। निर्वाण भी घटना है। इसका भी कोई कारण अवश्य होना चाहिए। प्रज्ञाशील और समाधि ही इसके कारण है। इस प्रकार प्रतीव्यसमुत्पाद के अनुसार प्रत्येक घटना का कोई-न-कोई कारण अवश्य होता है। कारण के अभाव में कोई घटना नहीं घट सकती है।

सांख्यमत-कार्य-कारण सिद्धान्त को सांख्य दर्शन में 'सत्कार्यवाद' कहा जाता है। यहाँ मुख्य प्रश्न यह है-क्या कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व अपने उत्पादन कारण में विद्यमान रहना है? (Does the effect pre-exist in its material cause?) सांख्य विचारक इसका भावात्मक उत्तर देते हैं। इनके अनुसार कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व अपने उपादान कारण में विद्यमान रहता है। पतंजलि एवं वेद व्यास ने भी इस मत की सम्पुष्टि की है। ठीक इसके विपरित न्याय-वैशेषिक 'असत्कार्यवाद' का समर्थन करता है। इसके अनुसार कार्य का आरम्भ नये सिरे से होता है। कार्य अपने उपादान कारण में पहले से विद्यमान नहीं रहता है। न्याय-वैशेषिक मत के अनुसार कार्य-कारण-सम्बन्ध का ज्ञान न तो जन्मजात (Innato) है और न इसका अनुभव होता है। यह सम्बन्ध अपने-आप में अनुभवजन्य नहीं है। जब दो पदार्थ सदैव एवं अनिवार्य रूप से एक-दूसरे के आगे-पीछे आते हैं तो इनमें कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित कर लिया जाता है।

न्याय-वैशेषिक 'बहुकारणवाद' (Plurality of causes) में विश्वास नहीं रखता। बहुकारणवाद के अनुसार एक घटना के अनेक कारण होते हैं। न्याय वैशेषिक का कहना है कि बहुकारणवाद को सत्य मानने पर अनुमान से ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता है। न्याय वैशेषिक के अनुसार कारण तीन प्रकार के होते हैं—(1) उत्पादन कारण (Material cause) (2) असमवायी कारण (Non-material cause) और (3) निमित्त कारण (Efficient cause)। जिस द्रव्य (Material) में किसी वस्तु की उत्पत्ति होती है, वही उसका उपादान कारण (Material cause) है। केवल द्रव्य से ही किसी वस्तु का निर्माण नहीं हो जाता। उदाहरणार्थ केवल मिट्टी से ही सुराही नहीं बन जाती। मिट्टी को सानना, गूँथना, पीटना, उसमें बालू, राख आदि मिलाना तथा उसे खास रूप देना आवश्यक है, तभी सुराही का निर्माण हो सकता है। मिट्टी, पानी, बालू, राख आदि को एक साथ मिलाना (Joining together) भी सुराही का एक कारण है। इसे ही असमवायी कारण (Non-material cause) कहते हैं। केवल मिट्टी के रहने और इसके पानी, बालू, राख आदि के साथ संयुक्त होने से ही सुराही का निर्माण नहीं हो सकता। इसके लिए एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता है, जो मिट्टी को पानी, बालू, राख आदि के साथ मिलाकर उसको खास रूप देकर, चाक चलाकर सुराही का निर्माण करे। यह व्यक्ति (अर्थात् कुम्हार) ही यहाँ निमित्त कारण है। कुम्हार सुराही बनाने के लिए चाकु, डण्डा, छूरी इत्यादि का सहारा लेता है। इन साधनों को 'सहकारी' कहा जाता है।

कार्य और उसके उपादान कारण के सम्बन्ध को लेकर भारतीय दर्शन में एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठ खड़ा होता है। क्या कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व अपने उपादान कारण में विद्यमान रहता है? (Does the effect pre-ovate in its material cause?) उदाहरणार्थ क्या सुराही पहले से ही अपने उपादान कारण (मिट्टी) में छिपी रहती है? इस प्रश्न के दो उत्तर दिये जाते हैं—पहला मत सांख्य विचारकों का है। इस मत के अनुसार कार्य-कारण में पहले से ही विद्यमान रहता है। इसे 'सत्कार्यवाद' कहते हैं। दूसरा मत न्याय-वैशेषिक का है, जिसे 'असत्कार्यवाद' कहते हैं। इसके अनुसार कार्य उत्पत्ति के पूर्व अपने उपादान कारण में विद्यमान नहीं रहता है।

न्याय-वैशेषिकों ने 'असत्कार्यवाद' के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये हैं—

(1) यदि कार्य पहले से ही अपने उपादान कारण में विद्यमान रहता है तो फिर उसके उपादान होने का क्या अर्थ है? उदाहरणार्थ—यदि सुराही मिट्टी में पहले से ही स्थित है तो फिर सुराही का निर्माण निरर्थक जान पड़ता है।

(2) यदि कार्य पहले से ही उपादान कारण में विद्यमान है तो फिर इसे उत्पन्न करने के लिए निमित्त कारण में विद्यमान है तो फिर इसे उत्पन्न करने के लिए निमित्त कारण (Efficient cause) को व्यर्थ प्रयास करने की क्या आवश्यकता है?

3. यदि कार्य पहले से ही उपादान कारण में स्थित है तो दोनों एक-दूसरे से भिन्न क्यों माने जाते हैं?

4. कार्य और कारण के रूप या आकार में तो अन्तर पाया जाता है। सुराही और मिट्टी के लोदे के रूप में निश्चय ही अन्तर है। यदि सुराही मिट्टी के लोदे में पहले से ही विद्यमान है तो फिर दोनों के आकारों में अन्तर क्यों है? यदि यह कहा जाय कि मिट्टी के लोदे में जो रूप नहीं है, वह सुराही में हो तो इसका अर्थ यह होगा कि शून्य से कुछ आरम्भ हुआ है। (Something has come out of nothing.) किन्तु ऐसा सोचना वैज्ञानिक नियम के विरुद्ध है। यह सर्वमान्य नियम (nothing) है। किन्तु ऐसा सोचना वैज्ञानिक नियम के विरुद्ध है। यह सर्वमान्य नियम है कि शून्य से शून्य की ही उत्पत्ति नहीं होती है, अर्थात् इससे कुछ उत्पन्न नहीं हो सकता (Nothing comes out of nothing) है।

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर न्याय-वैशेषिक असत्कार्यवाद का सिद्धांत सिद्ध करते हैं। इसके अनुसार प्रत्येक घटना की उत्पत्ति नये सिरे से होती है। इसीलिए इसे आरम्भवाद भी कहा जाता है। अद्वैत वेदान्तियों ने भी सत्कार्यवाद का समर्थन किया है किन्तु इनका सत्कार्यवाद परिणामवादी न होकर विवर्तवादी है। इन्होंने सांख्य की तरह कार्य और कारण को भिन्न नहीं बल्कि एक ही माना है। आदि शंकराचार्य ने अपने वृद्धारण्यक-भाष्य में बतलाया है कि कार्य और इसके उपादान कारण में प्रत्यक्ष के आधार पर कोई अन्तर नहीं दीख पड़ता है। सुराही और मिट्टी दोनों में किसी अन्तर का प्रत्यक्ष नहीं होता है। सांख्य की दृष्टि में विश्व का केवल उत्पत्ति-नाश, हीन पुरुष को छोड़कर बाकी सबका, मूल कारण है। जो कुछ भी भौतिक है, वह यानी भूत द्रव्य और शक्ति दोनों ही इसी से उत्पन्न हुए हैं। इसी से सभी विविधताओं से युक्त यह विश्व उद्भूत होता है। एम. हिरियन्ना का कहना है कि इसलिए यह सिद्धान्त परिणामवाद अर्थात् परिवर्तन का सिद्धान्त कहलाता है। हिरियन्ना ने तो यहां तक बतलाया है कि दिक् और काल तक प्रकृति के रूप माने गए हैं और इसलिए इनका स्वतन्त्र सत्ताओं के रूप में उससे पृथक् अस्तित्व नहीं है। सांख्य तत्त्वकौमुदी श्लोक 33वां और सांख्यप्रवचन भाष्य 2.12 में भी इस बात की सम्पुष्टि की है। यह एक विशेष रूप से ध्यान देने की बात है, क्योंकि यह दर्शन भूतद्रव्य को दिक् और काल में स्थित मानकर नहीं चलता, जैसा मानकर सामान्यतः अन्य दर्शन चले हैं और पाश्चात्य दर्शन भी प्रायः थोड़े दिन पहले क जैसा मानता था। इस बात की सम्पुष्टि राम हिरियन्ना ने भारतीय दर्शन की रूपरेखा के पृष्ठ 270 में की है। भौतिकवादियों के साथ-साथ अन्य वस्तुवादियों ने भी दिक् और काल में ही भूत द्रव्य को स्थित बतलाया है। इसके बजाय सांख्य और योग दर्शन ने मूल प्रकृति को ही इन दोनों का कारण माना है और इसी में इनका समावेश कर दिया है। प्रकृति के स्वरूप को अनुभव की सामान्य वस्तुओं के स्वरूप को अनुभव की सामान्य वस्तुओं के स्वरूप से अकेली तर्कना की सहायता से निगमित किया गया है। इन वस्तुओं अथवा पदार्थों का उपादान-कारण होने से प्रकृति में वे सब

बातें होनी चाहिए, जो उन सबमें सामान्य हैं, क्योंकि इस दर्शन के मूलभूत अभ्युपगम के मुताबिक कार्य या परिणाम को तत्त्वतः उपादान-कारण से अभिन्न होना चाहिए।

इसीलिए सांख्य के परिणामवाद की आलोचना करते हुए शंकराचार्य ने कहा है कि सांख्य का सिद्धान्त आत्म विरोधी हो जाता है। सांख्य की दृष्टि में मिट्टी घड़े में बदल जाती है। अगर यह बदलना वास्तविक है तो घड़े का आकार और रूप भी वास्तविक है। शंकर का कहना है कि यह आकार और रूप तो नया है, यह तो मिट्टी में नहीं था तो यह मानना पड़ता है कि घड़े का आकार और रूप घड़े के बनने के पूर्व नहीं था, फिर वह असत् है। तो असत् से सत् की उत्पत्ति को सांख्य-विचारकों ने मान लिया है। अतः सांख्य और योग अपने सत्कार्यवाद की नींव स्वयं खोद डालता है। इसीलिये शंकर ने परिणामवाद का खण्डन करके विवर्तवाद की सम्पुष्टि की है। विवर्त का अर्थ प्रतीत होता है। इसलिये विवर्तवाद के अनुसार कारण वास्तव में कार्य में परिणत नहीं हो जाता बल्कि केवल ऐसा प्रतीत होता है। ब्रैडले भी इसे आभास ही मानते हैं। इनकी दृष्टि में परिवर्तन एक प्रतीति है। वास्तविक नहीं है। हमें ऐसा लगता है कि मिट्टी घड़े में बदल गई। वास्तव में ऐसा नहीं होता है। अतः कार्य-कारण सम्बन्ध क्रमागत नहीं हो सकता है और इसलिए दुर्भाग्यवाश वह कार्य कारण सम्बन्ध नहीं, अपितु आभास मात्र है।<sup>118</sup>

---

---

अध्याय-22

मिल की पांच प्रयोगात्मक विधियां

---

---



हरशैल (Herschel) ने अपनी पुस्तक "Preliminary Discourse on the study of Natural Philosophy" नामक ग्रन्थ में दार्शनिक विचार के नौ नियमों की विवेचना करने के संदर्भ में उपर्युक्त प्रायोगिक विधियों की ओर संकेत किया है। बेकन (1561–1626 ई.) ने भी टेबुल ऑफ प्रेजेस, टेबुल ऑफ अवसेंस एवं टेबुल ऑफ डिग्रिज में अन्वय-विधि, सहगामी-विचरण और व्यतिरेक विधि का वर्णन अपने ढंग से किया है। इन पाँचों में दो ही (अन्वय विधि और व्यतिरेक विधि) मौलिक हैं और शेष गौण विधि माने गये हैं। जटिल घटनाओं की व्याख्या के लिए निराकरण की पाँच विधियों का आश्रय लिया जाता रहा है।

### अन्वय विधि

मिल का कहना है कि "यदि किसी घटना के दो या अधिक उदाहरणों में केवल एक अवस्था उभयनिष्ठ हो तो वह अवस्था, जिसमें सब उदाहरण अनुकूल हों, दी हुई घटना का कारण (या कार्य) होगी।" और इसी को अन्वय-विधि का सिद्धान्त कहा जाता है। इसमें कारण से कार्य और कार्य से कारण की ओर प्रस्थान किया जाता है जैसे ABC पूर्ववर्ती है और abc अनुवर्ती है। प्रथम घटना में ADE को देखते हैं और उसके पश्चात् ade को पाते हैं। इस अवस्था में हमें यह संकेत मिल जाता है कि पहले आने वाली अवस्था में कौन कारण नहीं है। ADE-ade जो दूसरी अवस्था है, यहाँ 'B' और 'C' नहीं आये हैं, लेकिन 'a' आया है। हमें गतअनुभव है कि अपरिवर्तनीय पूर्ववर्ती अवस्था ही कारण होती है। इससे हमें यह संकेत मिलता है कि किसी की अनुपस्थिति में यदि घटना हो जाए तो वह, जो अनुपस्थित है, घटना का कारण नहीं हो सकता है।

उपर्युक्त उदाहरण में 'a' वर्तमान है, किन्तु 'B' और 'C' नहीं आया है। अब हमें यह भी पता है कि कार्य और कारण साथ चलते हैं। इसलिये हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'a' का कारण न 'B' है और न ही ये 'a' के सम्बन्ध में अनावश्यक है, अतः इनका निराकरण कर दिया जाता है। 'A' को ही हम सभी स्थितियों में पाते हैं। 'A' के आने पर ही 'a' आता है। 'D' और 'E' को 'a' का कारण नहीं कह सकते हैं। चूंकि वे तीसरी स्थिति में वर्तमान नहीं है। DE सिर्फ द्वितीय अवस्था में ही वर्तमान हैं। अतः DE को भी अनावश्यक समझ कर हटा दिया जाता है। केवल 'a' ही हमेशा आता है। इसी तरह की अन्य अवस्थाओं में भी हम 'A' के साथ 'a' को बराबर आते देखते हैं। इसलिये 'A' को 'a' का कारण बतलाया है। इसीलिए मिल ने स्वयं अन्वय विधि की परिभाषा देते हुए कहा है कि "If two or more instances of the phenomenon under investigation have only one circumstance in common the circumstance in which all the instances agree is the cause or the effect of the given phenomenon."<sup>119</sup> अर्थात् यदि किसी जांच की जाने वाली घटना के दो या उससे अधिक उदाहरणों में उस घटना के अतिरिक्त एक

और बात सामान्य हो तो वह बात जो सब उदाहरणों में मिलती है, उस घटना के साथ कार्य-कारण का सम्बन्ध रखती है।

इनमें निम्नलिखित बातें देखने को मिलती हैं-

1. किसी घटना की केवल अपरिवर्तनीय पूर्ववर्ती अवस्था ही उसका कारण हो सकती है।
2. किसी घटना की केवल अपरिवर्तनीय उत्तरी अवस्था (in variable consequent) ही उसका कार्य होता है।
3. किसी घटना के बारे में खोज करना-यहां हम कभी तो किसी घटना के बारे में जानना चाहते हैं और कभी-कभी कारण को देखकर ही घटना की खोज करते हैं।
4. दो या दो से अधिक परिस्थितियों का निरीक्षण करना।
5. परिस्थितियां केवल एक ही बात में मिलती हैं और वह है-'घटना का आना'।
6. कारण का संकेत मिलना-बराबर आने वाली घटना से अपने लक्ष्य को निर्धारित करने में संकेत मिलता है।

इस विधि (अन्वय विधि) से लाभ या इसके गुण-

1. इस विधि का क्षेत्र व्यतिरेक विधि से बड़ा है। यह निरीक्षण प्रधान विधि है।
2. इस विधि के द्वारा कारण से परिणाम का पता चलता है और परिणाम से कारण का पता लगाया जा सकता है।
3. यह सरल विधि है। इसका उपयोग अनपढ़ एवं बच्चे अर्थात् सभी लोग कर सकते हैं।
4. प्रकृति रहस्यमय है, फिर भी इसके रहस्य का पता लगाने के लिए इसका उपयोग किया जाता रहा है।

इस विधि के दोष-

1. इसमें सूक्ष्म कारण का पता नहीं लगता है।
2. जहर मिलाकर पानी पीएँ या धतूरा मिलाकर पानी पीएँ अथवा पोटेशियम साइनाइट मिलाकर पानी पीएँ मृत्यु होगी, तो क्या पानी तो सब अवस्थाओं में है, मृत्यु का कारण है? नहीं। अतः यह अक्षम विधि है।

### व्यतिरेक विधि

मिल ने व्यतिरेक विधि की परिभाषा देते हुए बतलाया है कि "किसी एक उदाहरण जिसमें खोज की जाने वाली घटना उपस्थित होती है और एक दूसरा उदाहरण जिसमें वह घटना नहीं होती है-इन दोनों दृष्टान्तों में सब बातों में समानता रहती है, किन्तु एक बात में भिन्नता रहती है और यह भिन्नता वाली घटना पूर्व उदाहरण में उपस्थित रहती है। तब यह बात जिसमें दोनों उदाहरणों

में भेद है, या तो घटना का कार्य है या कारण का एक प्रमुख अंग है।" इस विधि के दो पहलू हैं—एक भावात्मक और दूसरा निषेधात्मक। यह व्यतिरेक—विधि ही है, जिसके द्वारा कारण—सम्बन्ध प्रमाणित किया जाता है।

विश्लेषणात्मक दृष्टि से देखने पर उपर्युक्त परिभाषा में निम्नलिखित बातें सामने आ जाती हैं—

(क) किसी घटना के बारे में यह जानना चाहते हैं कि वह कारण है या कार्य। यही खोज की जाने वाली घटना है। इस घटना को हम सिर्फ दो दृष्टान्तों में देखने की कोशिश करते हैं।

(ख) इन दोनों दृष्टान्तों अथवा उदाहरणों में एक अवस्था को छोड़कर हम सभी अवस्थाओं में समानता पाते हैं। इन उदाहरणों में केवल एक स्थिति में भिन्नता पाते हैं और वह अमुक अवस्था एक उदाहरण में उपस्थित रहती है और दूसरे में नहीं रहती है।

(ग) देखने के वक्त इस खोज या अनुसंधान की जाने वाली घटना को हम एक उदाहरण में उपस्थित देखते हैं और दूसरे उदाहरण में इसे गैरहाजिर देखते हैं।

(घ) अब इस स्थिति में, जिसमें हम दोनों उदाहरणों को पृथक् पाते हैं, या तो कार्य समझते हैं अथवा कारण या कारण का एक मुख्य अंग समझते हैं।

इस तरह, उपर्युक्त विधि के द्वारा हम कारण—सम्बन्ध निश्चित करते हैं। यह विधि निराकरण के सिद्धान्त पर आधारित है—“जब हम घटना के पूर्व आने वाली अवस्था को, घटना पर बिना आघात पहुँचाये हुए यहीं छोड़ सकते हैं तो ऐसी पहले आने वाली अवस्था को या तो कारण कहते हैं या कारण का कोई भाग कहते हैं।” जैसे अगर हम हवा से भरे एक बरतन में घंटी बजाते हैं तो उस घंटी की आवाज सुनाई पड़ती है। फिर उस बरतन से जब हवा बिल्कुल निकाल लेते हैं और घंटी बजाते हैं तो घंटी की आवाज नहीं सुनाई पड़ती है। इन दोनों परिस्थितियों में सभी अवस्थाएँ समान रहती हैं अन्तर इतना ही है कि एक बार बरतन में हवा रहती है और दूसरी बार हवा नहीं रहती है। उपर्युक्त उदाहरणों को देखने से हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि घंटी की आवाज सुनाई पड़ने का एक प्रमुख कारण हवा का रहना है।

इसी तरह जब किसी व्यक्ति को 'एनोफिलीज' मच्छर काटता है तो वह मलेरिया बुखार से ग्रसित हो जाता है और फिर जब वह मसहरी की मदद से इस मच्छर के काटने से अपने को बचा लेता है तब उसे मलेरिया ज्वर नहीं होता है। इससे सिद्ध होता है कि 'एलोफिलीज' मच्छर का काटना ही मलेरिया का कारण है चूंकि सभी अवस्थाएँ तो एक ही रहती हैं, किन्तु सिर्फ एक अवस्था में मच्छर नहीं काटता है। अतः मलेरिया बुखार का होना और न होना मच्छर के काटने और न काटने पर ही निर्भर करता है। इसलिये ऐसा कहना उचित ही है कि दोनों के बीच कार्य—कारण सम्बन्ध है।

### इसके गुण—

(क) यह विधि प्रयोग प्रधान विधि है। इससे मात्र शिक्षित ही नहीं बल्कि अनपढ़ एवं बच्चे भी लाभ उठा सकते हैं। बच्चे आँखें बन्द कर लेते हैं और उन्हें कोई वस्तु नहीं दिखती, फिर वे आँखें खोलते हैं और सामने की वस्तुएँ दिखने लगती हैं। इससे वे इस निष्कर्ष पर आते हैं कि चीज दिखाई पड़ने का कारण आँखों का खोलना है। अर्थात् आँखें ही देखने की इन्द्रियाँ हैं।

(ख) यह प्रयोगप्रधान विधि है और इसलिये इसमें गलती की कम संभावना रहती है।

(ग) इस विधि में सिर्फ दो ही उदाहरण लिये जाते हैं।

(घ) इस विधि से बहुकारणवाद के सिद्धान्त से उत्पन्न कठिनाइयों को बहुत अंश में दूर कर सकते हैं।

(ङ) अन्वय विधि से कारण के सम्बन्ध में सिर्फ एक संकेत मिलता है किन्तु इससे निश्चितता सिद्ध हो जाती है।

### इसके दोष—

इस विधि की आवश्यकता पूरी करना कठिन है और इस विधि के प्रयोग में सतर्कता की आवश्यकता है, जो शिक्षितों से संभव हो सकता है, अनपढ़ और बच्चों से संभव नजर नहीं आता है। इसलिये इसका क्षेत्र संकुचित माना जाता है। इतना ही नहीं इससे असावधान रहने पर यत्पूर्व तत्कारणम् दोष से बचना और कठिन हो जाता है। बहुकारणवाद से उत्पन्न सभी बाधाओं को दूर करना इस विधि से संभव नहीं है। इस विधि में कारण और कारणांश में भेद नहीं किया जाता है। फिर भी अन्य विधियों की अपेक्षा यह विधि अधिक उपयुक्त एवं समीचीन प्रतीत होता है।

फिर भी तर्कशास्त्रियों ने इनके प्रायोगिक विधियों की आलोचना करते हुए बतलाया है कि उनकी विधियों को आगमनात्मक विधि नहीं बल्कि निगमनात्मक विधियाँ कहना चाहिए। मिल ने स्वयं अपनी अवशेष विधि को निगमनात्मक है। वस्तुतः सत्य की खोज वाद—विवाद के द्वारा नहीं अपितु चिंतन—मनन के द्वारा की जा सकती है। गौतम बुद्ध, ऋषभदेव, महावीर, ईसा, महात्मा गांधी, शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, विवेकानन्द आदि महापुरुषों ने वाद—विवाद के द्वारा नहीं, चिंतन एवं आत्मानुभूति के द्वारा सत्य की प्राप्ति की है। अतः आगमन के विरोधाभास से बचने का उपाय एकमात्र अपरोक्षानुभूति ही है, जिससे मिल वंचित रहे हैं।

### संयुक्त अन्वय—व्यतिरेक विधि

कार्य कार्य सम्बन्ध निश्चित करने की विधियों या पद्धतियों को प्रयोगात्मक विधियाँ कहा जाता है। मिल ने निरीक्षण और प्रयोग पर आधारित कुछ पद्धतियाँ बतलाई हैं, जिनका अनुकरण कर कारण—कार्य सम्बन्ध का पता लगाया जा सकता है। इनके पांच पद्धतियों में संयुक्त अन्वय व्यतिरेक विधि का अपना अलग स्थान रखता है। मिल ने इसकी परिभाषा देते हुए लिखा है कि "If two or more instances in which the phenomenon under investigation

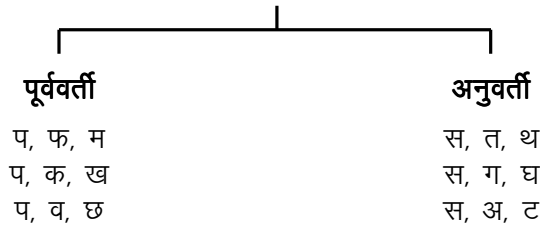
occurs, have only one circumstance in common, which to or more instances in which it does not occur have nothing in common save the absence of that circumstance the circumstance in which alone the two sets of instances differ, is the effect, or the cause of an indispensable part of the cause of the phenomenon.”<sup>120</sup> अर्थात् यदि किसी जांच की जाने वाली घटना के दो या दो से अधिक उदाहरणों में कोई एक बात सबमें पाई जाए और उस घटना के अभाव वाले दो या अधिक उदाहरणों में उस बात की अनुपस्थिति के अतिरिक्त और अन्य बात सब में नहीं पाई जाए तो केवल उसी बात का, जिससे दोनों प्रकार के उदाहरणों में भेद होता है, उस घटना से कार्य-कारण सम्बन्ध रखता है।

यदि उपर्युक्त परिभाषा का विश्लेषण किया जाए तो हमें निम्नलिखित बातें देखने को मिलती हैं—

1. इस विधि में भावात्मक और अभावात्मक दोनों तरह के उदाहरणों को सामने रखा जाता है।
2. भावात्मक उदाहरण के लिए निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना पड़ता है—(क) दो या दो से अधिक उदाहरणों की जांच करना, (ख) उन सभी उदाहरणों में किसी अमुक घटना के घटने या उसका भाव देखना, (ग) सभी परिस्थितियों में अन्य बातों की विभिन्नता और एक बात में समानता को खोजना और उस समानता को अमुक घटना की प्रत्येक परिस्थिति में पाना।
3. इसके पश्चात् निषेधात्मक अथवा अभावात्मक उदाहरणों के लिए भी निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना पड़ता है—(अ) दो या दो से अधिक उदाहरणों से उस घटना को नहीं पाना, (ब) उन सभी उदाहरणों में उस घटना का केवल एक बात की समानता के रूप में अमुक चीज के अभाव को खोजना।

अतः संक्षेप में हम कह सकते हैं कि जब घटना उपस्थिति रहती है तो किसी एक बात का भाव रहता है और उस घटना के अभाव में वह भी अनुपस्थित रहती है; तो उस बात का, जिसमें दोनों प्रकार के उदाहरणों में भेद होता है, उस घटना में अवश्य ही कार्य-कारण का सम्बन्ध होगा। इसको निम्नलिखित सांकेतिक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

#### भावात्मक उदाहरण



## अभावात्मक उदाहरण

### पूर्ववर्ती

ह, फ, म  
ज, क, ख  
म, च, ख

### अनुवर्ती

त, थ, द  
ग, घ, त  
ल, ट, य

उपर्युक्त उदाहरण में भावात्मक एवं अभावात्मक दोनों तरह की बातें विद्यमान हैं। एक में 'स' का भाव है और दूसरे में अभाव। जिस उदाहरणों में 'स' का भाव है, केवल 'प' उन सबमें उपस्थित है। साथ ही साथ जिन उदाहरणों में 'स' का अभाव है, केवल 'प' का ही उन सबमें अभाव है। इसलिए 'प' को हम 'स' का कारण कहेंगे। यही अन्वय-व्यतिरेक विधि या संयुक्त अन्वय-व्यतिरेक विधि का काम है।

एक यथार्थ उदाहरण के द्वारा इसे और स्पष्ट किया जा सकता है—एक मनुष्य अनेक उदाहरणों में देखता है कि जब कभी भी वह बाहर शीत में सोता है तब उसे सर्दी हो जाती है। इससे वह इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि शीत में सोना ही सर्दी होने का कारण है। यहां हम देखते हैं कि शीत में सोना और सर्दी के होने में कार्य-कारण-सम्बन्ध का होना अन्वय विधि के आधार पर कहा गया है। अब फिर अभावात्मक उदाहरणों को देखते हैं तो पाते हैं कि जब वह शीत में नहीं सोता है तब उसे सर्दी नहीं होती है। इन दोनों (भावात्मक एवं अभावात्मक) उदाहरणों के आधार पर वह शीत में सोने को सर्दी होने का कारण मानता है।

इस तरह हम देखते हैं कि जहां अन्वय-विधि में केवल भावात्मक उदाहरण को लिया जाता है और व्यतिरेक विधि में मात्र अभावात्मक उदाहरण को किन्तु सम्मिलित या संयुक्त अन्वय-व्यतिरेक विधि में भावात्मक और अभावात्मक दोनों उदाहरणों को देखा जाता है।

इसके (संयुक्त अन्वय-व्यतिरेक विधि) के निम्नलिखित गुण हैं—

1. जिस प्रकार अन्वय विधि निरीक्षण प्रधान विधि है, उसी प्रकार यह विधि भी निरीक्षण प्रधान विधि है। हम जानते हैं कि निरीक्षण का क्षेत्र प्रयोग से बड़ा है। अतः संयुक्त अन्वय-व्यतिरेक विधि का, जिसका सम्बन्ध निरीक्षण से है, क्षेत्र बड़ा है।
2. अन्वय-विधि से प्राप्त निष्कर्ष को यह विधि अधिक सबल बना देती है। एक अर्थ में अन्वय-विधि के निष्कर्ष की जांच इस विधि के द्वारा होती है। यदि दो घटनाएँ (एक पूर्ववर्ती और दूसरी अनुवर्ती) बराबर साथ पाई जाती है तो अन्वय विधि के अनुसार उनमें

कारण-कार्य सम्बन्ध होने का संकेत मिलता है। अब यदि उन दोनों घटनाओं के साथ अनुपस्थित होने के अभावात्मक उदाहरण भी मिलते हैं तो अन्वय विधि से प्राप्त पहले संकेत करीब-करीब पुष्टिकृत (conformed) हो जाता है और उन दोनों घटनाओं में कारण-कार्य सम्बन्ध होने की संभावना बढ़ जाती है। यद्यपि कारण-कार्य सम्बन्ध फिर भी सिद्ध नहीं हो जाता है, किन्तु ऐसे सम्बन्ध की संभावना बहुत बढ़ जाती है। इस तरह यह विधि अन्वय विधि के निष्कर्ष की जांच कर उसे सबल बना देती है।

3. इस विधि का सबसे बड़ा गुण यह है कि यहां बहुकार्य का भय नहीं रहता है।
4. इस विधि का काम हमारे व्यावहारिक और दैनिक जीवन में बहुत ही रहता है। अतः साधारण लोग इससे फायदा उठाते हुए पाये जाते हैं। जैसे कोई आदमी दो-तीन दिनों तक खाने के समय मांस के दो टुकड़े भी जब-जब खा लेता है तब-तब उसे पेट दर्द होने लगता है। फिर दो-तीन दिनों तक मांस नहीं खाकर देखता है, उसे तब पेट दर्द नहीं होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मांस खाना ही पेट दर्द का कारण है, क्योंकि एक के रहने से दूसरा भी रहता है और उसके नहीं रहने से दूसरा नहीं रहता है।

### इसके अवगुण या दोष

1. निरीक्षण पर आधारित होने के कारण इस विधि में निरीक्षण की भूल हो सकती है। हो सकता है कि आवश्यक बातें देखने को छूट जाएं। निरीक्षण की घटना पर हमारा नियंत्रण नहीं रहता है। फलतः सूक्ष्म तथ्यों के नहीं देखने की भूल हो सकती है।
2. इस विधि में सह-परिणामों को कारण-कार्य मान लेने की गलती हो सकती है।

### सहगामी विचरण विधि

हम जानते हैं कि प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण होता है। चूंकि बिना कारण कार्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि कारण में कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति है। हम यह भी जानते हैं कि जिस क्षेत्र में घटनाओं के परिमाण की माप हो सकती है, वहां अन्वय विधि और व्यतिरेक विधि का एक-दूसरे रीति से प्रयोग होता है, जिसे हम सहगामी विचरणा विधि कहते हैं। J.S. Mill के शब्दों में "Whatever phenomenon varies in any manner whenever another phenomenon varies in same particular manner, is either a cause or an effect of that phenomenon or is connected with it through some fact of causation."<sup>121</sup>

किसी घटना के परिमाण में परिवर्तन होने से यदि किसी दूसरी घटना के परिमाण में भी किसी प्रकार का परिवर्तन हो तो उन सभी परिवर्तित घटनाओं में कारण-कार्य का सम्बन्ध होगा।

जब अमुक घटनाओं में कोई परिवर्तन होता है और फिर यदि दूसरी घटना में उसी तरह का परिवर्तन होता है, तब पहली घटना (जिसमें परिवर्तन हुआ था), दूसरी घटना (जिसमें ही बाद में परिवर्तन होता है) का कारण या कार्य है या दोनों के बीच कारणता का सम्बन्ध है।

यदि हम ऊपर की बातों का विश्लेषण करें तो इसमें निम्नलिखित बातें पायेंगे—

- (i) दो या दो से अधिक उदाहरणों को निरीक्षण करना।
- (ii) उन उदाहरणों में किसी एक अवस्था में परिवर्तन देखना तथा फिर दूसरी अवस्थाओं को देखना।
- (iii) यह अवस्थाओं का परिवर्तन एक दिशा में भी हो सकता है और विपरीत दिशा में भी।
- (iv) घटना या बढ़ना एक ही परिणाम में होगा।
- (v) इससे परिवर्तित होने वाली अवस्थाओं के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध का होना।

अर्थात् इस विधि में जिस घटना की जांच होती है, उसके कुछ घटने या बढ़ने वाले उदाहरण लिये जाते हैं। उस घटना के घटने या बढ़ने के साथ जब किसी नियम से कोई दूसरी घटना घटती या बढ़ती है तो वही उसका कारण सिद्ध होती है। इसे एक सांकेतिक उदाहरण द्वारा इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं—

पूर्ववर्ती	अनुवर्ती
A B C	a b c
A <sup>1</sup> B C	a <sup>1</sup> b c
A <sup>2</sup> B C	a <sup>2</sup> b c

पूर्ववर्ती	अनुवर्ती
A B C	a b c
A <sup>1</sup> K F	a <sup>1</sup> h v
A <sup>2</sup> Y R	a <sup>2</sup> l k

ऊपर के उदाहरण में हम देखते हैं कि जब-जब A आता है तब-तब a आता है, फिर जब A बढ़ता है तो a भी बढ़ता है। जब A घटता है तो a भी घटता है। इससे जाहिर होता है कि A और a में कार्यकारण सम्बन्ध है।

ऊपर के दोनों उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सहगामीविचरणा विधि अन्वय विधि और व्यतिरेक विधि का एक विशेष रूप है।



जबकि उदाहरण की सभी अवस्थाएं भिन्न होती हैं और वे उदाहरण केवल एक अवस्था में समान होते हैं और समान अवस्था में परिभाषा में अन्तर होता है। तब हम उस अवस्था को सहगामी विचरणा विधि को अन्वय विधि का विशेष रूप मानते हैं, जैसा कि पहले उदाहरण में दिया गया है।

लेकिन जब दो उदाहरणों में एक अवस्था को छोड़कर अन्य अवस्था में समानता होती है तो यहां निरक्षरता ही प्रधान होता है। कहने का तात्पर्य है कि जब केवल एक ही अवस्था में भिन्नता होती है तो उस सहगामी विचरणा विधि को हम व्यतिरेक विधि का विशेष रूप मानते हैं। जैसा कि दूसरे उदाहरण में दिया गया है।

सहगामी विचरणा विधि को हम एक उदाहरण द्वारा इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं। मान लें कि हम एक बर्तन, जिसमें बहुत कम हवा है। बरतन में घंटी बजाने पर घंटी की आवाज बहुत कम सुनाई पड़ती है लेकिन जब हम उस बरतन में हवा की मात्रा अधिक कर देते हैं और तब घंटी बजाते हैं तो हम पाते हैं कि घंटीकी आवाज तेज सुनाई पड़ती है। इसी प्रकार जब गरीबी धीरे-धीरे बढ़े और उसके साथ-साथ चोरी, डकैती भी धीरे-धीरे बढ़े तो हम चोरी, डकैती बढ़ना गरीबी का कारण कहेंगे।

इस तरह पुलिस की निगरानी धीरे-धीरे अधिक करने से चोरी डकैती भी उसी अनुपात में कम हो जाये तो हम कहेंगे कि पुलिस की निगरानी ही चोरी डकैती नहीं होने का कारण है।

इस तरह हम पाते हैं कि इस विधि में कारण और कार्य बराबर होता है। चूंकि कारण जब घटता है और बढ़ता है तो कार्य में भी उसी अनुपात में घटना या बढ़ना होता है। जब घटना बढ़ना होता है, जब घटना के परिमाण से बढ़ना या घटने से कोई दूसरी घटनाओं में कोई परिवर्तन न हो तो हम उसका कारण नहीं मान सकते हैं। कहने का तात्पर्य है कि जब एक साथ घटनाएं बिल्कुल एक-सी रहती हैं तो उसे हम व्यतिरेक विधि का रूपान्तरण कहते हैं। लेकिन जब साथ ही घटनाएं भिन्न हो जाती हैं तो उसे हम अन्वय विधि का रूपान्तरण कहते हैं।

**गुण**—अब जहां तक सहगामी विचरणा विधि के गुणों का प्रश्न है, वे निम्नलिखित हैं—

(i) जब कभी हमारे सामने ऐसी समस्याएँ आ जाती हैं, जिसका कारण व्यतिरेक विधि के द्वारा नहीं निकाल पाते हैं तो वैसी अवस्था में उस समस्या का कारण निकालने के लिए सहगामी विचरणा विधि की सहायता लेते हैं, जैसे—हवा से, ताप से, शक्ति से, अणु से इत्यादि ऐसे पदार्थ हैं, जिनका बिल्कुल अभाव होना सम्भव नहीं है।

(ii) कार्य—कारण सम्बन्ध का पता इस विधि में हमें तब लगता है जब कारण और कार्य का रूप असाधारण रहता है, जैसे—यदि कोई मनुष्य भोज में

अधिक खा ले और वह मर जाये तो हम कहेंगे कि भोजन की अधिक मात्रा ही उसके मरने का कारण है।

(iii) जब हम किसी कारण को निश्चित करते हैं तो उसे निश्चित करने से पहले प्राक्कपना करना पड़ता है और यह प्राक्कलपना का संकेत हमें सहगामी विचरणा विधि से अधिक मिलता है।

(iv) जब हमें किसी के कारण घटना का पता व्यतिरेक विधि के द्वारा चल जाता है तो कारण का कितना अंश फल के कितने अंश को पैदा करता है, इसे हमें जानने के लिए सहगामी विचरणा विधि की सहायता लेनी पड़ती है।

(v) हम जानते हैं कि इस विधि का व्यवहार सामाजिक क्षेत्र से सुगमता से होता है, जैसे—जितनी ही अधिक संख्या में मनुष्य जन्म लेंगे उतनी ही संख्या में मरेंगे भी।

**दोष**—अब जहां तक इसके दोष का प्रश्न है, वह निम्नलिखित है।

(i) इस विधि का पहला दोष यह है कि जहां परिभाषा में भेद होता है, वही इस विधि का प्रयोग हो सकता है। गुण के घटने या बढ़ने से इसका सम्बन्ध नहीं है। जैसे—लाल रंग अधिक लाल होने से दूसरे रंग में बदल जाता है।

(ii) हम जानते हैं कि किसीनियम की घटने या बढ़ने की एक सीमा होती है। उस सीमा के बाद घटने या बढ़ने का नियम बदल जाता है। जैसे—जितनी गर्मी बढ़ती है, उतना फैलाव होता है और जितनी ठण्ड होती है, उतना सिकुड़न होता है।

(iii) अकस्मात् किसी कारण से किसी घटना का परिमाण घटने या बढ़ने लगे तो वहां इस विधि का प्रयोग ही होता है, जैसे—कभी—कभी कारण कार्य में तुरन्त परिणत नहीं हो पाता है।

(iv) जब किसी घटना का परिमाण घटता या बढ़ता है तो घटता या बढ़ता गुण बदलता है। ऐसी परिस्थिति में इस विधि का प्रयोग नहीं हो सकता है। जैसे—वायु की कम्पकम्पी से ध्वनि की कितनी ऊँचाई होगी, इस विधि द्वारा पता नहीं चलता है।

(v) कभी—कभी दो बातें एक साथ घटती या बढ़ती हैं लेकिन उनमें कार्य—कारण सम्बन्ध नहीं होता है, जैसे—जाड़ा और रात का बढ़ना जितनी तेजी से जाड़ा बढ़ती है। रात भी उतना ही तेजी से बढ़ी होती है। अतः इस विधि के द्वारा सिद्ध करना है कि जाड़ा के कारण रात बड़ी होती है गलत होगी।

### **अवशेष विधि**

समुचे आगमन तर्कशास्त्र के क्षेत्र में वैज्ञानिक आगमन का एक बहुत बड़ा स्थान है। वैज्ञानिक आगमन का काम एक पूर्णव्यापी वास्तविक वाक्य की स्थापना करना है। इसके लिए वैज्ञानिक आगमन को प्रकृति—समरूपता—नियम और कार्य—कारण—नियम से मदद लेना पड़ता है। अतः इस दृष्टिकोण से हम यह भी कह सकते हैं कि कार्य—कारण—नियम की स्थापना करना और

कारण-सम्बन्ध का पता लगाना भी वैज्ञानिक आगमन का उद्देश्य रहता है। B.N. Roy के शब्दों में "Scientific Induction aims at the discovery and proof of a causal connection among phenomena [The experimental methods are devices by which causal connections are discovered and proved] with a view to establishing a general proposition."<sup>122</sup> यानी दो वस्तुओं के बीच कारण-सम्बन्ध के पता लगाने के लिए आगमन तर्कशास्त्र के क्षेत्र में बहुत तरह की रीतियां बतलाई गई हैं। उन्हीं रीतियों में प्रयोगात्मक विधियां भी अपना अलग स्थान रखती हैं। इन विधियों में अवशेष विधि अनोखा स्थान रखती है।

मिल ने इसकी परिभाषा देते हुए बतलाया है कि "Subduct from any given phenomenon such part as is known by previous induction to be the effect of certain antecedents, and the residue of the phenomenon is the effect of the remaining antecedents."<sup>123</sup>

अर्थात् अगर दी हुई घटना में से उस भाग को निकाल दिया जाए, जो पहले आगमन के आधार पर कुछ पूर्ववर्ती अवस्थाओं का निष्कर्ष समझा गया है, तो घटनाओं का अवशेष भाग अवश्य ही अवशेष पूर्ववर्ती अवस्थाओं का कार्य होगा। इस विधि को अवशेष विधि कहा जाता है। इस विधि को अवशेष-विधि इसलिए कहा जाता है कि यहां दो मिश्रित या जटिल घटनाओं के अवशिष्ट अंश अर्थात् शेषांश में कारण-कार्य का सम्बन्ध बतलाया जाता है।

उपर्युक्त परिभाषा का विश्लेषण करने पर इस विधि में निम्नलिखित बातें देखने को मिलती हैं-

1. यहां हमारे सामने एक संयुक्त अथवा जटिल कार्य दिया रहता है। इसके कुछ भाग का कारण हमें पहले से ज्ञात रहता है और तब कार्य के शेष भाग के कारण का पता लगाना रहता है। यानी उस शेष अंश का कारण जानने के लिए अवशेष विधि की सहायता ली जाती है। दूसरे शब्दों में जब अनेक कारण मिलकर कार्य को उत्पन्न करते हैं और उसके निरीक्षण में कोई विशेष कठिनाई आ पड़ती है तो वह प्रणाली शेष बातों की व्याख्या करने में सहायक होती है।
2. कार्य का जो अंश हमें पूर्व से ज्ञात रहता है, उसे सम्पूर्ण कार्य से घटा देते हैं।
3. अब कार्य के शेष भाग तथा कारण के शेष भाग के बीच कारणता सम्बन्ध होने का अनुमान किया जाता है। यानी कार्य का जो हिस्सा बच जाता है, उसके बारे में यह अनुमान किया जाता है कि बचे हुए कारण के अंश से पैदा हुआ होगा। उदाहरण के लिए एक दुकानदार के यहां जब हम घी खरीदने जाते हैं तब वह पहले हमारे बर्तन को तौल लेता है और बाद में घी डालकर उसकी गैल बर्तन सहित करता है। उसके बाद उस तौल में से बर्तन की तौल

को निकाल देता है, जिसे बचा हुआ हिस्सा घी का वास्तविक तौल बतला देता है।

इसे एक सांकेतिक उदाहरण के द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है—

ABC.....abc

BC.....bc

.....A is the cause of a.

(Because B is known to be the cause of b, and C is known to be the cause of c.)<sup>124</sup>

वास्तविक उदाहरण—

बर्तन + घी = 20 किलो.

बर्तन = 3 किलो.

इसलिए घी = 17 किलो.

इसी तरह मान लीजिए कि किसी बैलगाड़ी को उस पर चढ़े हुए गाड़ीवान और रखे हुए वजन के साथ तौला जाता है। तौलने पर सबकी तौल 30 मन आती है। इस 30 मन में से बैल गाड़ी का वजन 15 मन और गाड़ीवान की तौल 2 मन पहले से ज्ञात है। गणना के द्वारा गाड़ी का वजन + गाड़ीवान की तौल  $15 + 2 = 17$  मन आ जाती है। इसलिए बची हुई चीज की तौल  $30 - 17 = 13$  मन होगी। इसी तरह की बात ट्रक या मालगाड़ी के किसी खास डिब्बे के सामान के साथ घटती है।

इस तरह हम देखते हैं कि इस विधि का रूप निगमनात्मक है। पूर्व अनुभव या आगमन के द्वारा कुछ दिये हुए ज्ञान के आधार पर हम यहां कुछ निष्कर्ष निकालते हैं। कुछ घटनाओं का कारण पहले से ज्ञात रहता है। इसी के आधार पर शेष घटना का कारण शेष पूर्ववर्ती को समझा जाता है।

इस प्रकार इस विधि में आगमन की अपेक्षा निगमन का अधिक प्रयोग होता है। यह विधि आविष्कार की विधि है, न कि प्रमाण की विधि। मिल की तरह मेलोन ने भी इस विधि की महत्ता को स्वीकार किया है। किन्तु इन्होंने (मेलोन ने) इस विधि के रूप को मिल से थोड़ा भिन्न कर दिया है। दो घटनाओं के अवशेष अंशों को सम्बद्ध करने के बजाय मेलोन का कहना है कि यदि किसी मिश्रित या जटिल घटना के कुछ अंशों का कारण अज्ञात रहे तो वैसे अंश या अंशों का कारण ढूंढ निकालना पड़ता है। मान लें कि सम्पूर्ण कार्य—सम्मिश्रण  $abcx$  है और कारण—संयोग मात्र  $ABC$  ज्ञात है, जिसमें  $abc$  का  $ABC$  कारण है। फलतः  $ABC$  कारण संयोग से कार्य—सम्मिश्रण से  $x$  मात्र की व्याख्या नहीं हो पाती है। प्रश्न उठता है कि  $x$  का कारण क्या है? ऐसी स्थिति में  $x$  के अज्ञात कारण को ढूंढना पड़ता है। विज्ञान में ऐसे अवशेष कार्य के अज्ञात कारण

को बहुधा खोजना पड़ता है। इसलिए इस विधि को खोज या अन्वेषण अथवा आविष्कार की विधि कहते हैं।

जहां तक इसकी (अवशेष विधि की) विशेषताओं (गुणों) का प्रश्न है, वे निम्नलिखित हैं—

1. इस विधि का प्रयोग वहीं संभव होता है, जहां घटना की आंशिक व्याख्या हुई रहती है। यानी इस विधि का उपयोग वहां होता है, जहां मिश्रित घटना के अधिक भाग ज्ञात हो जाते हैं और इसका छोटा भाग अज्ञात रहता है। इस छोटे भाग की जानकारी के लिए इस विधि की सहायता ली जाती है।
2. यह विधि निरीक्षण प्रधान न होकर निगमन या गणना प्रधान विधि मानी जाती है।
3. यह विधि व्यतिरेक विधि का एक विशेष रूप मानी जाती है। B.N. Roy के शब्दों में, "The method of Residues may be regarded a special modification of the method of difference, because, the principle underlying both these methods are the same, viz., if there are two instances."<sup>125</sup>
4. यह विधि हुत सरल एवं आसान है। यह साधारण ज्ञान पर आधारित है। अतः इसका प्रयोग हम अपने व्यावहारिक जीवन में हमेशा करते रहते हैं। इसके अतिरिक्त इसका उपयोग राजनीति, अर्थशास्त्र, औषधिशास्त्र इत्यादि क्षेत्रों में भी होता है।
5. वैज्ञानिक अनुसंधानों में यह विधि लाभदायक सिद्ध होती है। जटिल समस्याओं में से कुछ अंश का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर शेष के समाधान करने में यह विधि काफी सहायक है। शेष समस्याओं के कारण का संकेत इस विधि से मिल जाता है। इस संकेत को लेकर आगे बढ़ा जाता है और इसके परिणामस्वरूप कभी-कभी कई बड़े वैज्ञानिक अनुसंधान में सफलता हासिल की जाती रही है। हरशेल ने तो वैज्ञानिक उन्नति में इस विधि को प्रमुख माना है। इन्होंने यह स्वीकार किया है कि विज्ञान के बहुत बड़े-बड़े अनुसंधान इस विधि के द्वारा ही संभव हो सके हैं। नेपच्यून ग्रह को इस विधि की सहायता से ही ढूंढ निकाला गया है। इतना ही नहीं इससे यह भी पता लगाया गया है कि इस ग्रह के प्रभाव से युरेनस का रास्ता कुछ बदल जाता है। आर्गन गैस का पता भी इसी विधि से लगा है।

अब जहां तक इसके दोष का प्रश्न है, वे निम्नलिखित हैं—

(क) इस प्रणाली के द्वारा कारण सिद्ध नहीं होता बल्कि कारण का संकेत मिलता है। किन्तु कारण के संकेत मिलने पर उसकी परीक्षा की आवश्यकता बनी रहती है।

(ख) यह प्रणाली निगमनात्मक है। पूर्व अनुभव से इसमें फल का अनुमान किया जाता है। यह ज्ञात रहने पर कि ख का कारण क है, घ का ग और झ का ज निगमन रीति से निष्कर्ष निकलता है कि 'क' 'घ' का कारण होगा। अतः इसका उपयोग आगमन में करना उचित नहीं है।

(ग) इस विधि का प्रयोग सर्वत्र संभव नहीं है। सरल कार्यों में इस विधि को लागू नहीं किया जा सकता।

(घ) यह विधि स्वतंत्र नहीं है। यानी इस विधि को स्वतंत्र विधि नहीं कहा जा सकता है। इसकी उपयोगिता तब तक है, जब तक जांच की जाने वाली घटना के कुछ अंशों के कारण का ज्ञान हमें पहले से ही हो। घटना से पूर्णरूपेण अनभिज्ञ रहने पर यह विधि सहायता नहीं दे सकती है।

(ङ) इस विधि का सम्बन्ध परिणाम-विषयक खोजों से रहता है, न कि गुण सम्बन्धी खोजों से।

(च) कुछ तार्किकों ने इसे व्यतिरेक विधि का ही एक विशेष रूप माना है। इसलिए व्यतिरेक विधि के दोषों से यह विधि भी मुक्त नहीं है। वस्तुतः इस विधि में निराकरण का कार्य अधिकतर विचार के ही क्षेत्र में होता है, परीक्षा के लिए नहीं। अतः यह विधि परीक्षा के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध नहीं हो पाती है।

---

---

अध्याय-23

प्राक्कल्पना अथवा पूर्वकल्पना

---

---

किसी विषय का निश्चित ज्ञान प्राप्त करने के पूर्व जो अटकल या अन्दाज लगाया जाता है अथवा अनुमान किया जाता है, वहीं प्राक्कल्पना कहलाता है। जे.एस. मिल ने इसकी परिभाषा देते हुए कहा है कि—“An hypothesis is any supposition which are make (either without actual evidence, or on evidence ovoidly insufficient) in order to undeavour to deduce from it conclusion in accordance with facts which are known to be real; under the idea that if the conclusion to which the hypothesis leads are known truths, the hypothesis itself must be, or at least is likely to be true.”<sup>126</sup>

कॉफे ने भी इसकी संक्षिप्त किन्तु उपयुक्त परिभाषा देते हुए कहा है कि “An hypothesis is an attempt at explanation : a provisional supposition made in order to explain scientifically some fact or phenomenon.”

अर्थात् कल्पना व्याख्या करने का प्रयत्न है। यह एक काम चलाऊ अटकल या अन्दाज है, जो किसी घटना की वैज्ञानिक व्याख्या के लिए लगाया जाता है।

उपर्युक्त परिभाषा का विश्लेषण करने पर निम्नलिखित बातें देखने को मिलती हैं—

(क) जब कोई घटना घटती है और हम उसकी व्याख्या करना चाहते हैं तो उस समय कल्पना की आवश्यकता होती है।

घटना की व्याख्या का अर्थ उसका कारण जानना है। किसी घटना की व्याख्या तब हो जाती है, तब हम उसका कारण जान लेते हैं।

(ख) किसी घटना के वास्तविक कारण का तत्काल पता नहीं चलता है। इसके लिए पहले सूझ के बल पर किसी कारण का अटकल या अन्दाज लागना पड़ता है। घटना को देखने से कारण का अन्दाज मिलने लगता है और जिसमें हमारा अधिक विश्वास होता है, उसको तब तक के लिए कारण मान लेते हैं। जब तक कल्पना सत्य प्रमाणित नहीं हो जाती है, तब तक कामचलाऊ कल्पना से काम चलाना पड़ता है।

(ग) घटना की व्याख्या दो ढंग से की जा सकती है—(1) साधारण ढंग से, (2) वैज्ञानिक ढंग से।

जब कोई घटना घटती है तो एक साधारण आदमी जिस ढंग से उसकी व्याख्या करता है, एक वैज्ञानिक उस ढंग से उसकी व्याख्या नहीं करता है। एक साधारण आदमी वर्षा नहीं होने का कारण भगवान इन्द्र के प्रकोप को मानता है। वैज्ञानिक इन्द्र के प्रकोप को नहीं बल्कि प्राकृतिक परिस्थितियों को वर्षा नहीं होने का कारण मानता है। इसलिए किसी वैज्ञानिक की कल्पना एक साधारण आदमी की कल्पना से भिन्न हो सकती है।

तर्कशास्त्रियों ने उसी कल्पना को मान्यता दी है, जो किसी घटना की व्याख्या वैज्ञानिक तरीके से संभव हो। वैज्ञानिक ढंग से घटना की व्याख्या करने



के लिए कल्पना को यथार्थ या न्यायसंगत होना पड़ता है। केवल यथार्थ या न्यायसंगत कल्पना की घटना की व्याख्या वैज्ञानिक ढंग से कर सकती है। यथार्थ अथवा न्यायसंगत होने के लिए कल्पना को कुछ आवश्यक शर्तों का पालन करना पड़ता है। यदि कोई कल्पना इन शर्तों के मुताबिक होती है तो उसे यथार्थ या न्यायसंगत कहा जाता है। यानी तार्किक दृष्टिकोण से वही कल्पना यथार्थ होती है, जो निम्नलिखित शर्तों के अनुसार होती है—

1. यथार्थ कल्पना को उटपटांग, अस्पष्ट और आत्मविरोधी नहीं होकर निश्चित और विचारणीय होना चाहिए। यदि हम ऐसा कहते हैं कि मलेरिया ज्वर का कारण या तो एनोफिलीज मच्छर का दंश (काटना) है या गन्दे पानी का पीना है तो यहां हम कोई बात स्पष्ट रूप से नहीं कहते हैं। इस तरह की प्राक्कल्पना के आधार पर हम कोई जांच आरम्भ नहीं कर सकते हैं। यथार्थ कल्पना को अनिश्चित नहीं होकर निश्चित होना चाहिए। चोरी होने पर यदि हम कल्पना करें कि नौकर ने या आगन्तुक ने चोरी की है तो हमारी कल्पना अनिश्चित होगी। इसे सन्दिग्ध, उटपटांग एवं अस्पष्ट भी नहीं होना चाहिए।

2. इसे संगत एवं परीक्षा के योग्य होना चाहिए। (A Scientific hypothesis must be verifiable.)<sup>127</sup>

किसी कल्पना को सिद्ध करने के लिए परीक्षा का जांच जरूरी है क्योंकि परीक्षा के बाद ही पूर्व कल्पना की सत्यता जानी जा सकती है। परीक्षा दो तरह की होती है—प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष परीक्षा निरीक्षण और प्रयोग के द्वारा पूरी होती है।

अप्रत्यक्ष परीक्षा भी दो तरह की होती है—निगमनात्मक और आगमनात्मक।

3. यथार्थ कल्पना को साधारणतः पूर्वस्थापित सत्यों के विरुद्ध नहीं होना चाहिए। (A hypothesis, when well-established, becomes a theory and a theory when accepted as treated as a fact.)<sup>128</sup>  
यानी यथार्थ कल्पना को पूर्वस्थापित सत्यों से मेल होना चाहिए। जो कल्पना पहले से प्रमाणित सत्यों के विरुद्ध जाती है, उसके निराधार होने की संभावना अधिक होती है। जैसे यह प्रमाणित हो चुका है कि पृथ्वी में आकर्षण शक्ति है, फिर भी यदि कोई बैलून को ऊपर उड़ते हुए देखकर कल्पना करे कि "बैलून इसलिए ऊपर जाता है क्योंकि पृथ्वी की आकर्षण शक्ति इस पर काम नहीं करती है तो उसकी यह कल्पना पूर्वस्थापित सत्य के विरुद्ध होगी। हालांकि कोपरनिकस ने इस पूर्वस्थापित सत्य के विरुद्ध कल्पना की कि सभी ग्रह सूर्य की चारों ओर परिक्रमा करते हैं। बाद में यह कल्पना सत्य भी सिद्ध हो गई। इस तरह पूर्वस्थापित सत्य के

विरुद्ध हम कल्पना कर सकते हैं, किन्तु वह तभी कर सकते हैं जब ऐसा करने के लिए हमें अत्यधिक प्रमाण मिलते हों और वे प्रमाण तर्कयुक्त हों। अतः सामान्यतः हम पूर्वस्थापित नियमों या सत्यों के विरुद्ध कल्पना नहीं कर सकते।

4. यथार्थ कल्पना को वास्तविकता पर आधारित होना चाहिए और इसका विषय एक वास्तविक कारण होना चाहिए। (A hypothesis should be based on facts and it should have for its object a real cause or vera causa.) यानी यथार्थ कल्पना को तथ्य पर आधारित होना चाहिए। इसको न्यूटन के अनुसार vera causa होना चाहिए। Vera causa का अर्थ सही या सच्चा कारण होता है। वस्तुतः इसका अर्थ वह कारण है, जिससे घटना के घटने की संभावना हो। इसीलिये बतलाया गया है कि "A cause which may reasonably be believed to be existing and whose existence, therefore, does not involve self-contradiction" अर्थात् सत्य कारण उस कारण को कहते हैं, जो हमारे विचार में विरोध उत्पन्न न करे, यानी जो ऐसा हो कि उसी के द्वारा हम यह सोच सकें कि वह घटना व्यवस्थित पूर्णता का एक अंश है।
5. किसी कारण के सम्बन्ध में आवश्यकता से अधिक प्राक्कल्पना करना उचित नहीं है।
6. जटिल प्राक्कल्पना बनाने से यह अच्छा है कि सरल कल्पना की जाए। वैज्ञानिकों का ऐसा विश्वास है कि व्याख्या कुछ ही साधारण सिद्धान्तों से हो सकती है। यद्यपि साधारण प्राक्कल्पना से घटना की व्याख्या स्पष्ट रूप से हो सकती है, फिर भी सत्य की अवहेलना कर साधारण कल्पना को प्रश्रय नहीं देना चाहिए। यदि जटिल कल्पना से ही सत्य का अन्वेषण हो सके तो उसी को अपनाना अच्छा होता है।

जहां तक इसके प्रकार का प्रश्न है, ये तीन प्रकार की होती हैं—  
(क) कर्त्ता संबंधी, (ख) परिस्थिति संबंधी एवं (ग) विधि अथवा तरीका संबंधी कल्पना।

**(क) कर्त्ता संबंधी कल्पना**—जब किसी घटना की परिस्थिति (collocation) और विधि का ज्ञान हो, किन्तु इसके कर्त्ता की जानकारी न हो तो कर्त्ता का पता चलाने के लिए जो कल्पना की जाती है तो उसे कर्त्ता संबंधी कल्पना कहा जाता है। उदाहरण के लिए मान लें, किसी कमरे का ताला तोड़कर उसके अन्दर के सभी सामान गायब (गुम) कर दिये गये। यहां पर हमें ज्ञात है कि ताला तोड़कर चोरी की गई है। इसकी भी जानकारी है कि चोरी करने के वक्त (समय) कोई भी आस-पास अथवा इधर-उधर (अगल-बगल) नहीं था, वातावरण बिल्कुल सुनसान था। यह घटना की परिस्थिति है। हमें यह

मालूम नहीं है कि चोरी करने वाला कौन है? चोरी करने वाले के विषय में जो कल्पना करते हैं, उस ही कर्ता संबंधी कल्पना कहा जाता है।

नेपच्यून नामक ग्रह का पता इसी तरह की कल्पना से चला है। नेपच्यून की जानकारी प्राप्त करने से पूर्व वैज्ञानिकों को इस बात का ज्ञान था कि हरेक नक्षत्र में आकर्षक शक्ति है। नियमानुसार प्रत्येक नक्षत्र अपने निश्चित कक्ष पर घूमता है। पर वरुण अपने निश्चित कक्ष से कुछ हटकर घूमता है। वैज्ञानिकों ने सोचा कि किसी अज्ञात ग्रह के चलते ही वरुण अपने निश्चित कक्ष से कुछ हटकर घूमता है। आगे चलकर यह कल्पना सिद्ध हुई और वह अज्ञात ग्रह नेपच्यून ही था। अतः नेपच्यून का पता कर्ता सम्बन्धी कल्पना के कारण ही चला है।

**(ख) परिस्थिति सम्बन्धी कल्पना**—उत्तेजक ही कर्ता होता है। किन्तु सिर्फ उत्तेजक से ही कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता है। कार्य होने में सामग्री की भी जरूरत है। यह एक परिस्थिति है, जिस परिस्थिति में उत्तेजक कार्य सम्पन्न करता है। उदाहरण के लिए मान लिया जाए कि किसी घर में आग लग गई हो और अब यदि यह कहा जाए कि दियासलाई जलाने से आग लग गई तो यथार्थ नहीं कहलाएगा। घर जलने के लिए दियासलाई के अतिरिक्त सूखी लकड़ी का होना, पानी का अभाव, रात का समय, हवा का तेजी से बहना इत्यादि का होना आवश्यक है। इसी परिस्थिति को सामग्री कहते हैं और इसके द्वारा पता लगाना परिस्थिति संबंधी कल्पना कहलाता है।

**(ग) विधि संबंधी कल्पना**—कभी-कभी घटना के कर्ता और उसकी परिस्थिति के विषय में हमें ज्ञान रहता है, किन्तु यह ज्ञान नहीं रहता है कि किस विधि या नियम के द्वारा घटना घटी है तो कारणका पता नहीं चल पाता है किन्तु जब विधि का पता चलता है और उस विधि के द्वारा अन्दाज लगाते हैं तो हम उसे विधि संबंधी कल्पना कहते हैं।

दूसरे दृष्टिकोण से इसे साधारण और वैज्ञानिक कल्पना में बांटते हैं। वैज्ञानिक कल्पना सत्यान्वेषण में अहम भूमिका अदा करती रही है।

---

---

अध्याय-24

शिक्षा का औचित्य और शिक्षा का प्रसार

---

---

भारत पर पूर्ण आधिपत्य जमाने हेतु अंग्रेजों ने सामान्य शिक्षा के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार की प्राविधिक शिक्षा और विशिष्ट व्यावसायिक शिक्षा देने के लिए विद्यालयों का निर्माण किया। मैकाले की शिक्षा पद्धति को लागू करने की कोशिश की गई। इस पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से एक ऐसे विशिष्ट वर्ग की उत्पत्ति हो गई और वे विशिष्ट लोग, जिसने राष्ट्रीय शिक्षा की ओर ध्यान दिया। यह वर्ग शिक्षा के महत्त्व को भली प्रकार जानता था। इसमें देशमुख चिपलूणकर, आगरकर, मगनभाई, कर्मचन्द कर्वे, लोकमान बालगंगाधर तिलक, गोखले, मालवीयजी, गांधीजी एवं नेहरुजी जैसे महापुरुषों ने राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था की ओर विशेष ध्यान दिया। राजा राममोहन राय द्वारा स्थापित ब्रह्म समाज, दयानन्द सरस्वती द्वारा निर्मित आर्य समाज, स्वामी विवेकानन्द के द्वारा रामकृष्ण मिशन और अलीगढ़ आन्दोलन ने शिक्षा को प्रोत्साहित किया।

गोपाल कृष्ण गोखले का कहना था कि देश की तत्कालीन दशा में पाश्चात्य शिक्षा का सबसे बड़ा कार्य भारतीय जनमानस को पुराने जीर्ण-शीर्ण विचारों की दासता से मुक्त करना और उसमें पाश्चात्य जीवन चरित्र और चिन्तन के सर्वोत्तम तत्त्वों से अनुप्राणित करना था। अगर भारतीयों ने पाश्चात्य शिक्षा का बहिष्कार किया तो वह एक भयंकर भूल सिद्ध हो सकती है। नेहरुजी आदि ने भी इस बात की सम्पुष्टि की है। ये महान् उदारवादी नेता, व्यावहारिक आदर्शवादी और समाज सुधारक एवं राजनीतिक गुरु के रूप में जाने जाते थे।

उपर्युक्त विचारकों के विरुद्ध रुडयार्ड किंपलिंग का कहना था कि पूर्व पूर्व है और पश्चिम पश्चिम है तथा ये दोनों कभी भी नहीं मिल सकते हैं किन्तु वास्तविकता कुछ और ही है। आज संसार में लगभग सब कहीं प्रमुख विचारक पूर्व और पश्चिम के मिलन की बात कर रहे हैं। इस दृष्टि से समकालीन भारतीय चिन्तन में श्री अरविन्द घोष, रवीन्द्रनाथ टैगोर और महात्मा गांधी भारतीय परम्परा अथवा पूर्व के प्रतिनिधि हैं जबकि जवाहरलाल नेहरु, मानवेन्द्र नाथ राय, राहुल सांकृत्यायन आदि को पाश्चात्य परम्परा का प्रतिनिधि कहा जा सकता है।

वस्तुतः समकालीन भारतीय चिन्तन में नव्य वेदान्ती और प्रकृतिवादी अथवा भौतिकवादी दोनों ही विचारधाराओं का अपना महत्त्व है। उपर्युक्त दोनों विचारों के मिलन में पूर्व और पश्चिम का मिलन है। इसके समन्वय में दर्शन और विज्ञान, अध्यात्मवाद और भौतिकवाद, परम्परावाद और स्वतंत्र चिन्तन, प्रज्ञा और बुद्धि, आत्म-नियंत्रण और स्वतंत्रता का समन्वय होता है। डॉ. राधाकृष्णन् ने भारतीय दर्शन के प्रथम भाग की प्रस्तावना में ठीक ही लिखा है कि “यदि बाह्य कठिनाइयों को दूर करके उनसे ऊपर उठा जाए तो हम अनुभव करेंगे कि मानवीय हृदय की धड़कन में मानवता के नाते कोई भेद नहीं अर्थात् वह न भारतीय है और न यूरोपीय।”<sup>129</sup> जब भी धर्म ने एक जड़मतवाद का रूप धारण करने की प्रवृत्ति दिखाई तो अनेक आध्यात्मिक पुनरुत्थान और दार्शनिक

प्रतिक्रियाएं उत्पन्न हुईं और उपलब्ध विश्वास कसौटी पर कसे गये, असत्य का खण्डन कर सत्य की संस्थापना की गई है।

समकालीन भारतीय चिन्तकों की सांस्कृतिक चेतना एवं राजनैतिक विचार उसी अजस्र चिन्तनधारा का अंग है, जो वेदों से आरम्भ होकर आगे श्री अरविन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महात्मा गांधी जी के विचारों में दिखलाई पड़ती है। किन्तु इस परम्परागत अजस्र धारा के साथ-साथ समकालीन भारतीय राजनैतिक चिन्तन में एक मानववादी प्रवृत्ति पाश्चात्य प्रकृतिवादी मानववाद का परिणाम है। इस धारा की प्रमुख राजनैतिक विचारधाराएँ हैं। मानवेन्द्रनाथ राय का नव मानवतावाद एवं जवाहरलाल नेहरू का प्रकृतिवादी मानववाद इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

जहां हॉब्स ने मनुष्य को जन्म से क्रूर, हिंसक, दुष्ट और स्वार्थी माना है, वहां लॉक के अनुसार मनुष्य शांतिप्रिय और विवेकी होता है। रूसो के अनुसार मनुष्य स्वभाव से सरल, भद्र, स्वतंत्र और अच्छा होता है। इस तरह हम देखते हैं कि तीनों विचारकों में प्राकृतिक अवस्था को लेकर मतान्तर है। ऐसा मतान्तर इसलिए है कि इन्हें प्रकृति का समुचित अनुभव नहीं है। जन्म से व्यक्ति में यदि सरलता एवं शांतिप्रियता है तो निश्चय ही उसमें बचपन से ही सतो गुण की वृद्धि हो रही होगी और उसमें तमोगुण एवं रजोगुण बिल्कुल नियंत्रित होंगे। फिर यदि जन्म से ही कोई बच्चा झगड़ालू, क्रूर एवं स्वार्थी है तो उसमें तमोगुण की प्रधानता है और उसका भोजन अर्थात् आहार और विहार भी सतोगुणी से भिन्न रहा होगा। श्रीमद्भगवद्गीता में तीनों प्रवृत्ति के लिए तीन तरह के भोजन करने की प्रवृत्ति की चर्चा की गई है और उसी प्रकार उनकी इच्छाएं एवं आकांक्षाएं बनती रहती हैं।

सांख्य दर्शन के प्रणेता कपिल एवं श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने भी इस बात की सम्पुष्टि की है। तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नाति मानिता। भवन्त सम्पदं दैवीमन्निजातस्य भारत।। अर्थात् ये सब दैवी गुण सम्पन्न व्यक्ति के लक्षण हैं और इनमें सत्व गुण की प्रधानता रहती है और फिर जिसमें तमोगुण की प्रधानता रहती है, उनके लिए कहा गया है—“दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च। अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्”।<sup>130</sup> ऐसे तमोगुण से सम्पन्न एवं सव्वगुण से विपन्न व्यक्तियों का ही कहना है कि “असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि। ईश्वरोऽहमहं भोगीसिद्धोऽहं बलवानसुखी।। (That enemy has been slain by me and I shall kill those others too. I am the lord of all, the enjoyer of all power, I am endowed with all supernatural powers, and am mighty and happy.)<sup>131</sup>

इतना ही नहीं आगे यह भी बताया गया है कि ऐसे व्यक्तियों का कहना है कि मैंने इतना धन एकत्र किया और अधिक एकत्र करूंगा। इतने की हत्या कर चुका हूँ और आगे भी करूंगा। आज अमुक व्यक्ति, परिवार और आगे भी करूंगा। आज अमुक व्यक्ति, परिवार और राष्ट्र को अपने अधीन कर चुका हूँ

और अन्य को भी अधीन करूंगा। ऐसे ही व्यक्तियों को नियंत्रित करने के लिए रामधारीसिंह दिनकर ने कहा है कि मार्क्स से डरे हुए व्यक्तियों, अथवा समाज से कह दो कि ऐसे सांसारिक व्यक्ति अथवा संन्यासी के लिए अगर मार्क्स दुश्मन हैं तो समझ लेना चाहिए कि उसके लिए गांधी भी (उनका) चौकीदार नहीं बन सकते हैं। यहां गांधी की बात ही नहीं बल्कि अठारह पुराणों की मान्यता है कि परोपकार ही पुण्य कार्य है और दूसरे को पीड़ा पहुंचाना ही पाप है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी सर्वभूत हिते रताः की शिक्षा दी गई है।

उपर्युक्त विवेचनों से स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक या सांस्कृतिक विचारक अपने युग में दर्पण का प्रतिबिम्ब होते हैं। वे समाज में आने वाले संकट और खतरे का पुर्वानुमान या भविष्यवाणी भी करते हैं। इसी कारण वे युगद्रष्टा या विचारक भी कहलाते हैं। आदिकाल से लेकर आज तक के सभी विचारकों की अध्ययन पद्धतियां भिन्न-भिन्न रही हैं, निष्कर्ष भी पृथक्-पृथक् रहे हैं, फिर भी सबने मिलते-जुलते समाज, कुल या वंश अथवा पार्टियों पर अपने विचारों को केन्द्रित किया है। प्राचीन काल में देवता के गुरु बृहस्पति ने बतलाया है कि “दण्डनीति से शून्य पुत्र भी एक शत्रु है। ऐसे शिक्षक के उपदेशों अथवा शिक्षाओं की ओर ध्यान नहीं देना चाहिए, जिनको दण्डनीति का ज्ञान नहीं है।”

बृहस्पति के उपर्युक्त विचार कौटिल्य के अर्थशास्त्र अथवा नीतिदर्पण में वर्णित विचारों से मेल न खाकर शुक्र के विचारों से मिलते-जुलते हैं। राजनीति का प्रवेश मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन में होना चाहिए। इस ज्ञान के कारण ही कोई व्यक्ति सम्मान तथा प्रेम का पात्र होता है। बृहस्पति के अनुसार दण्डनीति की स्थिति तथा उसका अध्ययन भूत, वर्तमान तथा भविष्य में चारों वर्ग की सन्तानों को करना चाहिए। विश्व को चार काल चक्रों (time cycles) में विभाजित करते हुए उनका कहना है कि कृत युग में मनुष्य विद्वान् तथा दण्ड नीति के ज्ञान से परिचित होते हैं, त्रेतायुग के व्यक्ति या समाज सक्रिय तथा नीति में कुशल होते हैं, जैसे रघु, दिलीप, हरिश्चन्द्र, राजाराम आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। द्वापर युग के समाज अथवा व्यक्ति तन्त्र के गुरुओं का अनुसरण करते हैं तथा नीति के ज्ञाता रहे हैं, जैसे-कृष्ण, बलराम, युधिष्ठिर, अर्जुन आदि कलियुग के व्यक्तियों को ज्ञान तथा क्रिया के क्षेत्र में दण्डनीति का ज्ञान प्राप्त है। इसके बाद के मनुष्य जीवन तथा वेशभूषा इत्यादि में विरोधी नियमों का पालन करने वाले दण्डनीति के ज्ञान से शून्य होते हैं। जो व्यक्ति दण्डनीति के ज्ञान से स्वयं को वंचित रखता है, वह अग्नि कीज्वाला में उसी प्रकार प्रवेश करता है, जिस प्रकार एक पतंगा स्वयं को मूर्खतावश लौ में नष्ट कर लेता है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी इस बात की सम्पुष्टि की गई है।

बृहस्पति के अनुसार दण्डनीति के प्रभाव से पवित्र सूर्य, प्रतापी राजा, वायु, देवता तथा अन्य नक्षत्रों का स्थायित्व बना हुआ है। इस नीति का मुख्य ध्येय धर्म, धन तथा आनन्द प्राप्त करना है। मनु से पूर्व भी नाना प्रकार के पुराण अथवा पथ थे किन्तु उनमें परस्पर विरोध था। किसी एक मत की सर्वमान्यता

नहीं थी। विचारों की अराजकता के बीच धर्म एवं अनुशासन के बल पर जीवन चक्र प्रवर्तित करने का श्रेय सर्वप्रथम मनु को है। न्याय के मामलों में ऐसे व्यक्तियों से परामर्श नहीं किया जाना चाहिए, जिनको स्थानीय रीति-रिवाजों का ज्ञान न हो।

शुक्र के अनुसार नीतिशास्त्र सामाजिक सावयव का खाद्य पदार्थ है, उसकी शिक्षाएँ मानव समाज में रक्त संचार करती हैं तथा मानव समाज के विकास में सहयोग देती हैं। जिस तरह भोजन भौतिक जीवन की प्रारंभिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, उसी तरह नीतिशास्त्र सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। इनके अनुसार राज्य के सात अंग हैं—प्रभु (राजा), मन्त्री, साथी, कोष, क्षेत्र, दुर्ग तथा सेना। शुक्राचार्य ने इन अंगों की तुलना मानव शरीर के अंगों से की है।

औशनस सम्प्रदाय ने दण्डनीति को ही एकमात्र अस्तित्ववान बतलाया है किन्तु कौटिल्य ने धर्म-अर्थ के यथार्थ स्वरूप की शिक्षा अथवा ज्ञान प्राप्त करवाने के लिए आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति—इन चार प्रकार की विद्याओं को अनिवार्य तथा उपयोगी माना है।

ज्ञान के अनुरूप मनु ने दण्ड का विधान करते हुए बतलाया है कि चोरी के गुण तथा दोष को जानने वाले शूद्र के चोरी करने पर चोरी के विषय से आठ गुना दण्ड मिलना चाहिए। इसी तरह वैश्य को सोलह गुना, क्षत्रिय को बत्तीस गुना एवं ब्राह्मण को चौसठ गुना दण्ड देना चाहिए क्योंकि वह उसी चोरी के गुण और दोष को जानता है।

भारतीय सामाजिक संस्थाएं जो अत्यन्त प्राचीन काल में थीं, वे आज भी हैं, उनके आधार—तत्त्व में किसी प्रकार का मूलभूत परिवर्तन नहीं आया है, उनकी अक्षुण्णता पूर्ववत् बनी हुई है। यद्यपि इस बीच समय-समय पर अनेकानेक विदेशियों के अभियान हुए, जिन्होंने देश को बार-बार पदाक्रान्त और अशान्त किया तथा अपनी शक्ति और क्रूरता के बल पर स्थानीय संगठनों को तोड़ने का सबल प्रयास भी किया है। इनमें पारसी, यूनानी, यूनानी-बाख्ती, शक, पहन्व, कुषाण, हूण और मुसलमान जैसी विदेशी जातियां मुख्य हैं। इन्होंने इसकी मूल संस्कृति एवं इसकी विरासत को मिटाने की चेष्टा की है किन्तु भारतवासियों ने दृढ़तापूर्वक उसका सामना किया तथा अपना स्थायित्व बनाए रखा है।

वेद तो ज्ञान स्वरूप ही है। उससे ब्राह्मण ग्रन्थ एवं उपनिषद् का आगमन हुआ। फिर वेदांग की रचना वेदों के अर्थ और विषय को समझने के लिए की गई थी। कुछ विचारकों के अनुसार ब्राह्मण ग्रन्थ और उपनिषद् ही इसके लिए पर्याप्त हैं किन्तु कुछ का कहना है कि वेद के अर्थ और विषय की विस्तृत जानकारी के लिए वेदांग अत्यन्त आवश्यक सामग्रियों को उपलब्ध कराता रहा है। वेदांग कीसंख्या छः बतलाई जाती हैं—शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष और कल्प (सूत्र साहित्य)।



वेदों के शुद्ध उच्चारण और पाठ के लिए शिक्षा साहित्य का निर्माण हुआ, भाषा को वैज्ञानिक शैली प्रदान करने के लिए व्याकरण की व्यवस्था की गई। इसके मुख्य एवं प्रभावशाली चिन्तक को पाणिनि के नाम से जाना जाता है। तीसरी सदी ई. पूर्व में काव्यायन ने पाणिनि के सूत्रों के आधार पर वर्तिका का प्रणयन किया।

कल्पसूत्र साहित्य के तीन भाग हैं—श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र एवं धर्मसूत्र। श्रौतसूत्रों में वैदिक युगीन यज्ञों और वर्गीकरण का समावेश है। गृह्यसूत्रों में गार्हस्थिक संस्कार, अनुष्ठान, आचार—विचार और कर्मकाण्ड का वर्णन है तथा धर्मसूत्रों में धार्मिक नियमों, राजा—प्रजा के कर्तव्य और अधिकार, सामाजिक वर्ण प्रधान भेद का वर्णन किया गया है। वर्णाश्रम आदि विभिन्न व्यवस्था से संबंधित विधाओं का उल्लेख है। इस प्रकार शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द एवं ज्योतिष के बीच परस्पर पूरक का सम्बन्ध है।

इस अन्योन्याश्रित संबंध की विवेचना प्राचीन एवं नव्य नैयायिकों ने अपने-अपने ढंग से किया है। पाणिनि के अनुसार व्याकरण वेद का मुख है, ज्योतिष नेत्र, निरुक्त श्रोत्र, कल्प हाथ, शिक्षा नासिका और छन्द दोनों पाद हैं अर्थात् वेद की ज्ञानमीमांसीय चेतना के लिए व्याकरण, शिक्षा, ज्योतिष, निरुक्त है तो कर्ममीमांसा के लिए कल्प और छन्दशास्त्र हैं। विट्गेंस्टाइन के अनुसार अधिकांश दार्शनिक समस्याएं वास्तविक नहीं हैं। वे केवल व्याकरणात्मक या भाषिक भ्रान्तियां हैं। इन भ्रान्तियों का निराकरण काव्यायन की वर्तिका से दूर की जा सकती है। विट्गेंस्टाइन की दृष्टि में दार्शनिक समस्याएँ बौद्धिक रोग या संप्रत्यात्मक बीमारी है। दर्शन का कार्य इनका उपचार करना या इनसे मुक्त होना है। विट्गेंस्टाइन की दृष्टि में दर्शन का वास्तविक लक्ष्य इन भाषाजनित भ्रान्तियों से मुक्त होना है।<sup>132</sup> यदि विट्गेंस्टाइन पाणिनि सूत्र एवं वर्तिका का अध्ययन करते तो निश्चित ही बीमारी को वे दूर कर देते किन्तु वे ऐसा नहीं कर सके। रसेल के वर्णनात्मक ज्ञान एवं परिचयात्मक ज्ञान की विवेचना भी नव्य नैयायिकों ने अपने ढंग से इनके पूर्व ही कर दी है। यदि मूर और रसेल उनका अध्ययन करते तो निश्चय ही सामान्य बुद्धि की सीमा से परे ज्ञान का अनुभव हो जाता। हुसल, सार्त्र आदि की फेनॉमेनॉलॉजिकल ज्ञान मीमांसा के लिये इतना कुछ प्रयत्न करना नहीं पड़ता। जी.ई. मूर की दृष्टि में इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है और इन्द्रियानुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान निश्चित नहीं होता बल्कि संभाव्य होता है जबकि वेदांगों के द्वारा प्राप्त ज्ञान निश्चित एवं यथार्थ होता है।

होल्ट के अनुसार वस्तुवाद या वास्तववाद ही समाप्त हो रहा था तथा उसके स्थान पर सर्ववस्तुनिष्ठतावाद उजागर हो रहा था। नव वस्तुवाद ज्ञानमीमांसीय एकवाद का सिद्धान्त है, उसकी मुलोक्ति है जो हम देखते हैं, वह पूर्णतया वही है "जो वह है"। फिर इसके बाद समीक्षात्मक वस्तुवाद का सिद्धान्त सामने आया। यह ज्ञानमीमांसीय द्वैतवाद का उदाहरण है। इसके

अनुसार ज्ञान का विषय एक नहीं दो है। इसी कारण समीक्षात्मक वस्तुवाद को ज्ञान के तीन घटकों वाला सिद्धान्त (Three factor theory of knowledge) कहा जाता है—वे घटक हैं विषयी या ज्ञाता, ज्ञान-विषय या ज्ञेय तथा दोनों के बीच प्रदत्त-विषय का वह रूप जो विषयी को प्रदत्त होता है तथा जिसके माध्यम से विषयी विषय का ज्ञान प्राप्त करता है। इसकी जानकारी वेदांग ने इसके पूर्व ही दे दी है। न्याय ने इसकी पुष्टि अपनी ज्ञानमीमांसीय विवेचनों में कर दिया है। डी.एम. दत्त की 'द सिक्स वेज ऑफ नोईंग' और एस.सी. चटर्जी की 'थ्योरी ऑफ नॉलेज' में भी उपर्युक्त समस्याओं का निदान निकाला गया है।

शिक्षा के क्षेत्र में जॉन डिवी की देन प्रशंसनीय है। इनकी दृष्टि में शिक्षा ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है। यथार्थ शिक्षा प्राप्त होने पर शिक्षित व्यक्तियों की आम जनता के प्रति अभिवृत्ति बदल जाती है। इस अर्थ में सम्पूर्ण दर्शनशास्त्र को ही शिक्षा का सामान्य सिद्धान्त कहा जा सकता है। शिक्षा मानव व्यक्तित्व के लिए अनिवार्य है। अब प्रश्न है कि शिक्षा का स्वरूप क्या है? ज्ञान की सीमा क्या है? इन्द्रियानुभव ही वास्तविक ज्ञान है? अथवा अनुभवातीत ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है? इन्द्रियानुभव ही यथार्थ ज्ञान है और 'इन्द्रिय सुख ही वास्तविक सुख है' की अवधारणा के कारण हॉब्स निकृष्ट स्वार्थवादी सुखवादी माने जाते हैं और बेंथम के उपयोगितावादी दर्शन को सूकरा का दर्शन (pig philosophy) कहा जाता है और सुकरात एवं प्लेटो के दर्शन को मानवीय तथा श्रेष्ठ दर्शन बतलाया गया है। प्लेटो को पूर्ण ग्रीक का दर्जा मिला है, अन्य को नहीं।

प्लेटो ने सुकरात की शिक्षा एवं उपदेश को साकार किया है। सुकरात ने अहंकार मुक्त होकर कहा था कि उन्हें परम तत्त्व के विषय में ज्ञान तो नहीं है, किन्तु ज्ञान से प्रेम अवश्य है। इसी प्रेम के कारण सुकरात को विष का प्याला पीना पड़ा है। सुकरात जानते थे कि 'वे नहीं जानते हैं' किन्तु अन्य लोग नहीं जानते थे कि 'वे नहीं जानते हैं' यही सुकरात एवं अन्य दार्शनिकों में अन्तर है। सुकरात की तरह आदिशंकराचार्य ने भी बतलाया है कि अज्ञानी ही गलती करते हैं, ज्ञानी नहीं। शंकर, रामानुज और सुकरात एवं प्लेटो की दृष्टि में इन्द्रियानुभव नहीं बल्कि अनुभवातीत ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है और यही ज्ञानमीमांसा की मीमांसा है। डॉ. राधाकृष्णन् ने भी बुद्धि के जगह अन्तर्बोध अथवा अन्तश्चेतना को अधिक महत्त्व दिया है।

सीखने का अर्थ एवं प्रक्रिया, साथ ही साथ ज्ञान की मौलिक स्थिति की चर्चा करते हुए सुकरात ने बतलाया है कि गुरु शिष्य को कोई नवीन ज्ञान नहीं देता है बल्कि उसकी आवृत बुद्धि को अनावृत कर देते हैं। इस सम्बन्ध में सी.ई. एम. जोड ने ठीक ही लिखा है कि, "Socrates does not, that is to say, tell him the answer. Socrates's role is that of a cross-examiner whose object is to turn the attention of the examinee in the direction of an answer which he must see for himself or not at all. Evidently, therefore, socrates

concludes, the slave had in himself as an original possession the knowledge of which he is suddenly made conscious. Thus "teaching" is a process of directing the attention of the pupil to which he already knows. The teacher does not impart information to the pupil. He merely enables the pupil to convince himself of something which he sees for himself. Similarly learning is a process by which the soul becomes reacquainted with what it already knows, or knows, but has forgotten that it knows. Learning, then, is the apprehension of inborn knowledge. It is "to recover of oneself knowledge from within oneself."<sup>133</sup>

ऐसे ही गुरु की चर्चा करते हुए कबीरदास ने कहा है—'गुरु बिन कौन बतावे वाट' प्रो. रानाडे ने बतलाया है कि लगता है कोई अंधेरी राहों में भटकता हुआ सही मार्ग बताने वाले की प्रतीक्षा कर रहा है और वह प्रतीक्षा करने वाला ही शिष्य है एवं सही मार्ग बताने वाला ही गुरु है। वह गुरु, जिसने स्वयं साक्षात्कार कर लिया हो और वही साक्षात्कार करवा रहा है। नानक भी ऐसे ही गुरु की चर्चा करते हुए बतलाया है—मत को भ्रम भूलै संसार। गुरु बिन कोइ न उतरस पार। व्यास ऋषि ने भी कहा है कि जिन्हें सतगुरु नहीं मिले हैं, उनके वचन प्रेत के प्रलाप के समान हैं। सन्त दादू दयाल ने भी बतलाया है—सतगुरु चरणामस्तक धरणा, राम नाम कहि दूतर तिरणा। प्रो. रानाडे का कथन है कि उपनिषदों के ऋषि भी उस अनिर्वचनीय अनुभव का कथन करने में असमर्थ हैं। केवल प्रकाश दर्शन की सूचना देते हैं, जो आत्मा के स्वरूप में स्थित होने का पूर्वाभास है। कुछ साक्षात्कार कर्ता नाद श्रवण की भी सूचना देते हैं, जैसे शंकराचार्य, सुकरात, प्लेटो, कबीरदास, तुलसीदास आदि। प्रो. रानाडे की दृष्टि में उपनिषद् के ऋषि द्रष्टा थे। इसलिए वे दिखाने में सक्षम भी थे।

ऐसे ही गुरु ऋषभदेव, महावीर और बुद्ध थे। श्रीकृष्ण इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। अर्जुन ने उनसे कहा है कि आप मेरे गुरु हैं, इस विषम परिस्थिति में मेरा मार्गदर्शन करावें। कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः। यच्छेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।<sup>134</sup>

ऐसे गुरु के मिलने पर ही लक्ष्य की प्राप्ति संभव होती है इसीलिए बतलाया गया है कि—

**यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र यार्थो धनुर्धरः।  
तत्र श्रीर्विज्यो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।।<sup>135</sup>**

चूंकि दोनों जानते हैं कि

**सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।  
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा।।<sup>136</sup>**

अर्थात् ज्ञानयोग के द्वारा अकर्म एवं निष्काम कर्मयोग की स्थिति बन जाती है और फिर उसे पाने की इच्छा नहीं रहती है क्योंकि जो वह जानता है,

वही वह हो जाता है। यही ज्ञान की चरम सीमा है। यह इन्द्रियानुभव से नहीं बल्कि अनुभवातीत ज्ञान से संभव हो सकता है।

श्रीमद्भगवद्गीता के षष्ठ अध्याय के पांचवें श्लोक की व्याख्या करते हुए शंकराचार्य ने बतलाया है कि संसार-सागर में डूबे पड़े हुए अपने-आपको उस संसार समुद्र से आत्मबल के द्वारा ऊँचा उठा लेना चाहिए अर्थात् इन्द्रियों के अधीन न होकर उससे ऊपर उठने की बात बतलाते हैं। उनका कहना है कि योगारूढ़ अवस्था को प्राप्त कर लेना चाहिए। आमा को नीचे नहीं गिरने देना चाहिए क्योंकि यह आप ही अपना बन्धु है। दूसरा कोई (ऐसा) बन्धु नहीं है जो संसार से मुक्त करने वाला है तथा अपने आप में कोई शत्रु है। कोई दूसरा शत्रु नहीं है। जो स्वयं शरीर रूपी रथ को अपने वश में कर लेता है अर्थात् जितेन्द्रिय हो गया है, वह स्वयं की अनिष्ट से रक्षा कर सकता है। ऐसी स्थिति में वह अपना गुरु भी स्वयं हो जाता है। यह अन्तर चेतना या अन्तर्बोध से ही संभव हो सकता है। शंकराचार्य की शब्दावली में अपरोक्षानुभूति से परम सिद्धि की प्राप्ति संभव हो सकती है। काण्ट ने भी इन्द्रियों को बुद्धि का दुश्मन होना स्वीकार किया है इसलिए भावना का दमन करने की बात को स्वीकार किया है। इसी भावना को नियंत्रित कर अपरोक्षानुभूति के माध्यम से स्थितप्रज्ञ या सच्चिदानन्द की प्राप्ति संभव है बर्गसां ने भी Elam Vital की प्राप्ति के लिए intuition को ही अन्तिम उपाय बतलाया है। डॉ. राधाकृष्णन्, रवीन्द्रनाथ टैगोर, महर्षि अरविन्द घोष, रानाडे, दत्तात्रेय, स्वामी विवेकानन्द, कबीरदास, तुलसीदास, करपात्रीजी महाराज आदि ने भी अन्तर्बोध को ही वास्तविक बोध बतलाया है और यही पारमार्थिक सत्ता की प्राप्ति का एकमात्र उपाय है।

वेद, उपनिषद्, आरण्यक, ब्राह्मण ग्रन्थ, स्मृति ग्रंथ, पुराण, सूत्र ग्रन्थ, महाभारत, रामायण, रामचरित मानस, सुर, तुलसी, मीरां, कबीर, सहजोबाई, महादेवी वर्मा, रामधारीसिंह दिनकर आदि कवियों का महाकाव्य एवं गद्य ग्रन्थों में ज्ञान देने वालों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। गुरु को गोविन्द अर्थात् ईश्वर से भी अधिक ऊँचा स्थान दिया गया है। शिष्य को विष का बेलरी कहना और गुरु को अमृत की खान कहना भी उपर्युक्त बातों की पुष्टि करता है। गुरु को ब्रह्मा, विष्णु और महेश कहा गया है। इसीलिए तुलसी ने "बद ऊँ गुरु पर पदुम पराणा, सुरुचि सुवास सरस अनुरागा।।" कहा है। बुद्ध और महावीर ने भी गुरुओं की महत्ता अपने-अपने ढंग से स्वीकार किया है। दोनों गुरु हैं और इसलिए ईश्वर तुल्य ही हैं।

---

---

अध्याय-25

भारत के विकास में बिहार की अहम् भूमिका

---

---

कहा जाता है कि प्राचीन मिथिला देश ही आधुनिक बिहार राज्य है। कुछ विद्वानों का मानना है कि बौद्ध विहार से ही बिहार शब्द बना है। विहार शब्द का अर्थ भौतिक और आध्यात्मिक सुख-समृद्धि या आनन्द है। बौद्ध विहार मात्र बिहार, बंगाल एवं उडिसा को ही नहीं प्रभावित किया बल्कि सम्पूर्ण भारत को एक सूत्र में बांध दिया। सम्राट अशोक को कौन नहीं जानता। सम्राट अशोक का भारत वर्तमान भारत से निश्चित रूप में बड़ा था। इस दृष्टि से आज हम खण्डित भारत के ही नागरिक सिद्ध होते हैं। शायद इसीलिए संवेदनशील भारतीय, अखण्ड भारत की कामना आज भी करते हैं। इसी अखण्ड भारत ने विश्व में बहार लाने का काम किया है। चूंकि बुद्ध और जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर महावीर बिहार के थे। इन्होंने अपने मत का प्रचार-प्रसार भारत के अतिरिक्त अन्य देशों में भी किया और विदेशों में इनके शिष्यों की कतार लग गई। इसीलिए भारत को दुनिया का गुरु माना जाता है। इनके अनुयायियों के द्वारा प्रचार एवं प्रसार कार्य अभी भी चल ही रहा है। खासकर बौद्ध धर्मावलम्बियों की संख्या भारत से कहीं अधिक विदेशों में है। चीन, वर्मा, भूटान, थाईलैण्ड, नेपाल, तिब्बत, श्रीलंका आदि देशों में इसका प्रमाण अभी भी मिलता है। कुछ देशों में बौद्ध धर्मावलम्बियों का वर्चस्व अभी भी दृष्टिगोचर हो रहा है। कभी यह राजधर्म के रूप में भी स्वीकृत था। इसके अन्यत्र अफगानिस्तान, संयुक्त राज्य अमेरिका, रूस आदि देशों में भी इसका प्रभाव देखा जा सकता है। अतः इन्हें संसार का गुरु मानना अयुक्तसंगत नहीं है। हमारे हिन्दू ग्रंथों में दशावतार का वर्णन मिलता है। बुद्ध उन अवतारियों में से एक हैं। शायद इसीलिए इन्हें भगवान बुद्ध नाम से स्मरण किया जाता है। जयदेव ने गीतगोविन्द में इस तथ्य को और अधिक स्पष्ट रूप में उजागर किया है। डॉ. राधाकृष्णन् आदि विद्वानों ने भी हिन्दू धर्मावलम्बियों में ही इनकी गिनती की है। डॉ. राधाकृष्णन् की दृष्टि में हिन्दू धर्म के अन्तर्गत जो खामियं आई थीं, बुद्ध ने उसे दूर किया है। यानी बुद्ध हिन्दू धर्म सुधारकों में से एक थे। इस दृष्टि से बिहार का पैदाईश बुद्ध संसार का गुरु सिद्ध हो जाते हैं और उनको पैदा करने वाली मां स्वरूपा बिहार प्रदेश विश्व की गुरु मां साबित होती है। इस दृष्टि से बिहार को विश्व के मानवों को मदद पहुंचाना गुरुऋण से मुक्ति पाना है।

इसके अतिरिक्त याज्ञवल्क्य ऋषि, राजा जनक और मां सीता की नगरी होने के नाते यह प्रदेश मुक्त पुरुषों अथवा विदेह की अवधारणा को लेकर आज भी विश्व के लिए प्रेरणादायक बना हुआ है। यदि आज का मानव जनक और अष्टावक्र संवाद की जानकारी हासिल कर लें तो विश्व की तमाम समस्याओं का समाधान स्वयं हो जायेगा। यदि मां सीता के चरित्र एवं कृति का ध्यान करें तो भी अधिकांश समस्याओं का समाधान संभव है। लव-कुश के व्यक्तित्व एवं कृतित्व में माताश्री का ही व्यक्तित्व एवं कृतित्व प्रदर्शित हुआ है और वह आज भी विश्व के लिए प्रेरणादायक है। मैत्रेयी एवं काव्यायनी जो याज्ञवल्क्य की धर्मपत्नी थी, विश्व के लिए आज भी प्रेरणा का स्रोत बन सकती है। बुद्ध की

तपोभूमि गया एवं राजगृह आज भी बौद्ध बिहार का नमूना पेश कर ही रहा है। किन्तु अतातायियों के अत्याचार से कुछ शिथिलता अवश्य आई है। उसे दूर करना हम सबका कर्तव्य है और अपने कर्तव्य का निर्वाह करने और कर्तव्य के बल पर ही ब्रह्मा जगत् की सृष्टि करते हैं। विष्णु जग का पालन करते हैं और शिव विघ्नों का संहार करते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने ठीक ही लिखा है—

**तपबल सृजइ प्रपंच विधाता। तपबल विष्णु सकल जगत्राता।।**

**तपबल संभु करहिं संघारा। तपतैं अगम न कछु संसारा।।<sup>137</sup>**

इतना ही नहीं इन्होंने तप को ही सृष्टि का आधार माना है। तप, त्याग बुद्ध और महावीर के लिए श्रेय का आधार ही है। अतः बिहार कर्तव्य और त्याग का नमूना पेश करने वाला प्रदेश सिद्ध होता है। बुद्ध का जन्मस्थान अभी नेपाल में पड़ता है। किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से बिहार ही नहीं बल्कि भारत का अधिकांश भाग और नेपाल की संस्कृति एक ही है। प्राचीनकाल में यही मिथिला कहलाता था। अभी भी भारत के नागरिक बुद्ध के जन्मस्थल पर जल चढ़ाने जाते हैं और उनकी पूजा अर्चना करते हैं। जनकपुर में भी भारतियों की भीड़ लगी रहती है और नेपाली बन्धु भी सहज ही भारतवासियों से मिल-जुलकर काम करते रहे हैं। धार्मिक एवं सांस्कृतिक एकता को यदि स्वीकार कर लिया जाए तो पुराना मिथिला और आज का बिहार को मात्र हिन्दू धर्म एवं संस्कृति का ही नहीं बल्कि अन्य धर्म एवं संस्कृति के उन्नायकों में से एक माना जा सकता है। जनक नन्दनी सीता का दूसरा नाम श्री भी है। और श्री ही नहीं बल्कि मां सीता, कीर्ति, वाक्य, स्मृति, मेधा और क्षमास्वरूपा भी हैं। शायद इनकी सत्ता एवं महत्ता को ध्यान में रखकर ही श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा है कि—

**मृत्यु सर्वहरश्चाहमुदभवश्च भविष्यताम्।**

**कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मधा घृतिः क्षमां।।<sup>138</sup>**

जिन्होंने देवर्षियों में स्वयं को नारद कहा, सिद्धों में कपिल कहा, बुद्धिमानों में शुक्राचार्य, पाण्डवों में स्वयं को अर्जुन और इसी तरह कभी अपने को भृगु, बृहस्पति यदि भी बतलाया। उन्होंने नारियों में अपने को श्री, कीर्ति, वाक्य, स्मृति, मेधा, घृति और क्षमा बतलाया है। अतः श्री आदि जो स्वयं सीता माँ का उपनाम है, वही सम्पूर्ण भारत के विकास एवं समृद्धि का कारण है।

बिहार का सपूत कौटिल्य अत्याचारी नन्दवंश का नाश कर चन्द्रगुप्त मौर्य को पदासीन किया। नन्दवंश का विनाश और मौर्यवंश की स्थापना जगत् प्रसिद्ध घटना का उदाहरण है। सम्राट अशोक का कलिंग विजय चण्डाशोक से धर्मपरायण प्रतापी राजा अशोक की अन्य करामतें भी कम प्रसिद्ध नहीं हैं। उस समय भारत की समृद्धि का आधार बिहार ही था।

बिहार ने ऐसे अनेकानेक चिन्तकों को पैदा किया है, जिन्होंने भारत की समृद्धि एवं विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। आज भी बिहार का विक्रमशिला एवं नालन्दा विश्वविद्यालय का अवशेष अपनी शैक्षणिक ऊँचाइयों को याद दिला रहा है। पटना का कदमकुआं, भारत का राष्ट्रीय उच्च पथ जो कभी

शेरशाह ग्रैंड ट्रक रोड के नाम से जाना जाता था, वह अशोक के द्वारा ही निर्मित हुआ था। शेरशाह ने उसकी केवल मरम्मत करवाई थी। इतिहासकार आज भी इसे कबूल करते हैं। आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक समृद्धियों के कारण और परिणाम को भूलाया नहीं जा सकता है।

यदि आज भी बिहार की ऐतिहासिक देन से प्रेरणा लें तो भारत के विकास में वह अहम् भूमिका अदा कर सकता है। जो आज गरीबी, उत्पात, घोटाला एवं अशिक्षा में अपना नाम कमाने की ओर बढ़ रहा है, वह भारत तो क्या सम्पूर्ण एशिया महादेश के विकास में अहम् भूमिका अदा कर सकता है। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद को भारत रत्न की उपाधि यों ही नहीं प्राप्त हुई बल्कि वे बिहार का बेटा होते हुए भी मात्र बिहार का ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण भारत के विकास एवं समृद्धि के लिए हमेशा तत्पर रहे। यदि उनके द्वारा बताये गये रास्ते पर चलें और बिहार केशरी डॉ. श्रीकृष्णसिंह, अनग्रहनसिंह, डॉ. श्री रामानुग्रहसिंह, श्री जयप्रकाश नारायण, श्री कर्पूरी ठाकुर, जगजीवन राम, स्व. ल.ना. मिश्र आदि महापुरुषों के द्वारा बताये गए रास्ते पर चलें तो मात्र राजनैतिक संकट ही नहीं बल्कि बहुत हद तक सामाजिक संकट भी दूर हो सकता है। जयप्रकाश नारायण को बिहार ही नहीं सम्पूर्ण भारत लोकनायक मानता है। अर्थात् भारत के विकास में इनकी अहम् भूमिका के कारण ही तो इन्हें लोकनायक कहा गया है। लोकनायक कहते ही हमें गोस्वामी तुलसीदास का स्मरण होने लगता है। तुलसीदास के व्यक्तित्व और कृतित्व की दृष्टि से जयप्रकाश अवश्य ही भिन्न थे किन्तु लोक जागरण की दृष्टि से बिहार का ही नहीं बल्कि हिन्दुस्तान का मसीहा बनकर दिखा दिया। रामधारीसिंह दिनकर ने तो उनके सम्बन्ध में लिखा है कि “स्वप्नों का द्रष्टा जयप्रकाश भारत का भाग्य विधाता है।” इतना ही नहीं इन्होंने भारत के युवक एवं युवतियों को जागृत करने का भार ही सौंप दिया है। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी को भी राजनैतिक एवं सामाजिक चेतना से उत्प्रेरित करने वाला बिहार राज्य का चम्पारण जिला ही है। श्री रामचन्द्र शुक्ल के किसान आन्दोलन से प्रेरित होकर उसमें भाग लेना और भारत के स्वतंत्रता आन्दोलन में अपनी अहम् भूमिका अदा करना बिहार की ही देन है। अतः राष्ट्रकवि को ही नहीं बल्कि यह धरती राष्ट्रपिता को भी प्रेरित करने वाली धरती है। राष्ट्रकवि दिनकर की रचना संस्कृति के चार अध्याय, अर्द्ध नारेश्वर, हमारी संस्कृति, स्मृति एवं श्रद्धांजलियां, हुंकार, सामधेनु, कुरुक्षेत्र, रश्मिरथि, हारे को हरिनाम, परशुराम की प्रतिज्ञा, द्वन्द्वगीत, आदि भारत की स्वतंत्रता आन्दोलन तक ही सीमित नहीं बल्कि आज भी भारत के विकास एवं समृद्धि की ओर संकेत कर रहा है। यदि इन रचनाओं का अध्ययन किया जाए तो बिहारवासियों का कल्याण तो होगा ही, सम्पूर्ण भारत का कायापलट भी हो सकता है। दिनकर की रचना दिल्ली और मास्को एवं हिमालय भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।



अतः बिहार का भारत के विकास में अहम् भूमिका रही है और आगे भी इससे कामना रख सकते हैं। अतः दिनकर शिखर पुरुष थे। उनकी प्रेरणा से शिखर पर पहुंचा जा सकता है।

बिहार का वैशाली आज भी भारत के लिए ही नहीं बल्कि विश्व के इतिहास में अनोखा लोकतंत्र का उदाहरण पेश किया है। लिच्छवी वंश के द्वारा निर्मित व्यवस्था आज भी लोकतंत्र के समर्थकों के लिए प्रेरणास्रोत है। यहां के आम्रपाली ने अजातशत्रु का दिल बदल दिया। कर्ण का चरित्र और महाभारत पर आधारित रश्मिरथि में कर्ण का चरित्र आज भी प्रेरणा का स्रोत बना हुआ है। वह बिहार का अंगदेश जो आधुनिक मुंगेर कमीश्नरी है, कर्ण की तपोभूमि रहा है। इसी तपोभूमि के कारण कर्ण का दानी होना और शूरवीर होना संभव हो सका है। यदि इस धरती से उसे प्रेरणा न मिली होती तो शायद कर्ण की प्रसिद्धि इतनी अधिक नहीं होती। भीष्म पितामह जो पहले उन्हें अर्द्धरथि कहा करते थे, उनकी मित्रनिष्ठा एवं शूरवीरता के कारण अन्तिम क्षणों में महारथी होना स्वीकार कर लिया है। कृष्ण जो स्वयं परमेश्वर ही कहे जाते हैं उनकी राजनीति एवं कूटनीति भी कर्ण के आगे नहीं चल सकी। वह चाल भी कर्ण की दृष्टि में खोटा सिक्का महसूस हुआ। लगता है कृष्ण की जांच में वे सफल निकले इसीलिए अन्तिम में भीष्म एवं श्रीकृष्ण ने भी यशस्वी होने का वरदान दे ही दिया। यह घटना अर्थात् इनकी दानशीलता, शूरवीरता, गुरुभक्ति एवं मित्रता बिहार के लिए ही नहीं पूर्ण विश्व के लिए प्रेरणादायक है। यह कर्ण की प्रतिष्ठा को भारत में चमकाने वाली धरती है, मुझे आशा ही नहीं बल्कि विश्वास है कि यह धरती बिहार को दिशा प्रदान करेगा ही सम्पूर्ण भारत के विकास के लिए भी प्रेरणा स्रोत बनेगा। और भारत की समृद्धि बढ़ने पर विश्व की वर्तमान समस्याओं का भी निदान संभव हो सकेगा। गुरुभक्ति और मित्र-निष्ठा व्यक्ति विशेष के लिए ही नहीं बल्कि एक देश का दूसरे देश के साथ मित्रता के भाव और क्रिया को सुदृढ़ बनाने में कारगर सिद्ध हो सकता है।

मुंगेर का योग विश्वविद्यालय आज भी नालन्दा विश्वविद्यालय की याद दिला रहा है। नालन्दा की तरह आज भी योग विद्या को ग्रहण करने के लिए देश की जनता ही नहीं बल्कि विश्व की जनता लाभ उठा रही है। योग की बात से महर्षि पतंजलि की याद आती है। चूंकि योग के प्रणेता वहीं थे। उन्हीं की विद्या से विश्व में योग क्रिया अथवा योगासन द्वारा विभिन्न बीमारियों को दूर करना और साथ ही साथ अन्तिम ध्येय मोक्ष की प्राप्ति संभव हो जाती है। आज उस विरासत को बिहार का मुंगेर मात्र उसे बचाया ही नहीं बल्कि उपयोगिता एवं प्रासंगिकता को बरकरार रखा है।

विज्ञान के क्षेत्र में भी बिहार पीछे नहीं है। आर्यभट्ट ने भारत के लिए ही नहीं विश्व के वैज्ञानिकों के लिए अगुआ का काम किया है। मैथमैटिक्स में दशमलव का जन्मदाता इन्हें ही माना जाता है। मैथमैटिक्स में ही नहीं बल्कि विज्ञान के और आयामों में इनकी देन महत्त्वपूर्ण है। आज वशिष्ठ नारायण

विक्षिप्त नजर आते हैं किन्तु उन्होंने अपने प्रारम्भिक जीवन में ही विश्व को मैथिमैटिक्स के क्षेत्र में प्रभावित किया और सिद्ध करके दिखाया कि इस क्षेत्र में हिन्दुस्तान बहुत कुछ कर सकता है। अतः विज्ञान के क्षेत्र में भी बिहार विश्व में बहार लाया है। भारत के विकास एवं समृद्धि में तो इनकी अहम भूमिका है ही विश्व के वैज्ञानिक भी इन्हें लोहा मानते हैं।

दर्शन के क्षेत्र में तो बिहार ने आधार वाक्य का काम किया है। ज्ञान सबसे मूल्यवान चीज है, तभी तो श्रीमद्भगवद् गीता में कहा गया है कि—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनिविन्दति।<sup>139</sup>

अर्थात् इस पृथ्वी पर ज्ञान से बढ़कर या उससे बड़ा कोई शुद्धि कर्ता नहीं है। जो कोई कर्मयोग के निरन्तर प्रयास के द्वारा हृदय की पवित्रता प्राप्त कर लिया है, वह स्वयं अपनी आत्मा में सत्य का प्रकाश पा लेता है और वही सत्य का द्रष्टा चरम आनन्द को भी प्राप्त करता है। इसीलिए गीताकार ने आगे फिर बतलाया है कि—

**श्रद्धाबाल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।**

**ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।<sup>140</sup>**

यानि ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् ही आनन्द और शान्ति की प्राप्ति होती है। दर्शन के अन्तर्गत ज्ञानमीमांसा, तत्त्वमीमांसा और आचारमीमांसा का अध्ययन किया जाता है। जहां तक ज्ञानमीमांसा का प्रश्न है, वह ज्ञान का विज्ञान अथवा दर्शन भी कहलाता है। इसे ज्ञान की समीक्षा भी कहा जाता है। इसके अन्तर्गत ज्ञान का स्वभाव, अवस्था, सीमाएँ, फैक्टर्स और उसकी यथार्थता की जांच एवं व्याख्या की जाती है। हरिमोहन भट्टाचार्य के शब्दों में—

"The Term epistemology means the science or philosophy of knowledge. Epistemology may be defined as the science which inquires into the nature, condition and factors, the limits and validity of knowledge."<sup>141</sup>

न्यायशास्त्र उन साधनों व उपायों का ही केवल अनुसंधान नहीं करता, जिनके द्वारा मानव मस्तिष्क ज्ञान को आत्मसात और विकसित करता है। यह तार्किक तथ्यों की भी व्याख्या करता है तथा उन्हें तार्किक सूत्रों में प्रकट करता है, जो सत्य के अन्वेषण में विविध सिद्धान्तों की स्थापना करते हैं। इस तरह प्रमाण विज्ञान के साथ अथवा मानदण्ड निर्मित हो जाते हैं और उनसे हम अपने अन्दर पूर्व से उपस्थित ज्ञान की जांच कर सकते हैं। अब स्पष्ट है कि गौतम एवं उनके अनुयायियों के द्वारा प्रदत्त तर्कशास्त्र प्रमाण का विज्ञान है अर्थात् साक्षी का मूल्य निर्धारण करता है। लौकिक प्रत्यक्ष और अलौकिक प्रत्यक्ष एवं अलौकिक प्रत्यक्ष के तीन भेद हैं—सामान्य लक्षण, ज्ञान लक्षण और योगज। अन्तिम भेद अन्तिम यौगिक अन्तर्दृष्टि है। यह भारत की अमूल्य निधि है और यह निधि बिहार के सपूतों के द्वारा निर्मित किया गया है। इसलिए भारत के विकास एवं गौरव में बिहार की अहम भूमिका स्वतः सिद्ध हो जाता है। प्राचीन

न्याय से नव न्याय के प्रणेता बिहार के हैं। कुछ बिहार के प्रभाव के कारण ही बंगाली भी नव नैयायिक बने। गौतम, उदयनाचार्य, कृष्ण मिश्र, श्री गंगेश उपाध्याय, डॉ. उमेश मिश्र, डॉ. अमरनाथ झा, डॉ. हरिमोहन झा, रघुनाथ शिरोमणि आदि का नाम नित्य स्मरणीय है। गदाधर को कुछ लोग बंगाली मानते हैं। जो भी हो किन्तु यह निर्विवाद ही है कि इनको ऊँचाई तक ले जाने वाला बिहार ही है। गदाधर को भारतीय तार्किकों का सम्राट कहा गया है। मीमांसा दर्शन के क्षेत्र में मण्डन मिश्र का नाम उल्लेखनीय है। यद्यपि आदिशंकराचार्य से इनकी हार हो गई तथापि शंकर को भी उनकी पत्नी भारती के समक्ष कुछ समय तक स्तब्ध रह जाना पड़ा।

यह सही है कि दोनों अन्त में शंकर का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया किन्तु शंकर दिग्विजय का अन्तिम पड़ाव मण्डन मिश्र ही ठहरे। इनकी पैठ ज्ञान मीमांसा, तत्त्व मीमांसा और आचार मीमांसा पर समान रूप से दृष्टिगत होता है। ये और वाचस्पति मिश्र दोनों पूर्वमीमांसा और उत्तर मीमांसा के प्रकाण्ड पण्डित निकले। इन्होंने शंकर के अरमानों को मंजिल तक पहुंचाया है। अतः हम कह सकते हैं कि बिहार ही भारत को उच्च शिखर पर पहुंचाया है और पहुंचायेगा।

कौटिल्य का नीति दर्शन और अर्थशास्त्र अभी भी दुनिया के लिए प्रेरणादायक हैं। साहित्य के क्षेत्र में विद्यापति का नाम आज भी श्रद्धापूर्वक लेते दर्शन के क्षेत्र में तो बिहार ने आधार वाक्य का काम किया है। ज्ञान सबसे मूल्यवान चीज है, तभी तो श्रीमद्भगवद् गीता में कहा गया है कि—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनिविन्दति।<sup>142</sup>

अर्थात् इस पृथ्वी पर ज्ञान से बढ़कर या उससे बड़ा कोई शुद्धि कर्ता नहीं है। जो कोई कर्मयोग के निरन्तर प्रयास के द्वारा हृदय की पवित्रता प्राप्त कर लिया है, वह स्वयं अपनी आत्मा में सत्य का प्रकाश पा लेता है और वही सत्य का द्रष्टा चरम आनन्द को भी प्राप्त करता है। इसीलिए गीताकार ने आगे फिर बतलाया है कि—

**श्रद्धाबाल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।**

**ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।।<sup>143</sup>**

यानि ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् ही आनन्द और शान्ति की प्राप्ति होती है। दर्शन के अन्तर्गत ज्ञानमीमांसा, तत्त्वमीमांसा और आचारमीमांसा का अध्ययन किया जाता है। जहां तक ज्ञानमीमांसा का प्रश्न है, वह ज्ञान का विज्ञान अथवा दर्शन भी कहलाता है। इसे ज्ञान की समीक्षा भी कहा जाता है। इसके अन्तर्गत ज्ञान का स्वभाव, अवस्था, सीमाएँ, फैक्टर्स और उसकी यथार्थता की जांच एवं व्याख्या की जाती है। हरिमोहन भट्टाचार्य के शब्दों में—

"The Term epistemology means the science or philosophy of knowledge. Epistemology may be defined as the science which inquires into the nature, condition and factors, the limits and validity of knowledge."<sup>144</sup>

न्यायशास्त्र उन साधनों व उपायों का ही केवल अनुसंधान नहीं करता, जिनके द्वारा मानव मस्तिष्क ज्ञान को आत्मसात और विकसित करता है। यह तार्किक तथ्यों की भी व्याख्या करता है तथा उन्हें तार्किक सूत्रों में प्रकट करता है, जो सत्य के अन्वेषण में विविध सिद्धान्तों की स्थापना करते हैं। इस तरह प्रमाण विज्ञान के साथ अथवा मानदण्ड निर्मित हो जाते हैं और उनसे हम अपने अन्दर पूर्व से उपस्थित ज्ञान की जांच कर सकते हैं। अब स्पष्ट है कि गौतम एवं उनके अनुयायियों के द्वारा प्रदत्त तर्कशास्त्र प्रमाण का विज्ञान है अर्थात् साक्षी का मूल्य निर्धारण करता है। लौकिक प्रत्यक्ष और अलौकिक प्रत्यक्ष एवं अलौकिक प्रत्यक्ष के तीन भेद हैं—सामान्य लक्षण, ज्ञान लक्षण और योगज। अन्तिम भेद अन्तिम यौगिक अन्तर्दृष्टि है। यह भारत की अमूल्य निधि है और यह निधि बिहार के सपूतों के द्वारा निर्मित किया गया है। इसलिए भारत के विकास एवं गौरव में बिहार की अहम भूमिका स्वतः सिद्ध हो जाता है। प्राचीन न्याय से नव न्याय के प्रणेता बिहार के हैं। कुछ बिहार के प्रभाव के कारण ही बंगाली भी नव नैयायिक बने। गौतम, उदयनाचार्य, कृष्ण मिश्र, श्री गंगेश उपाध्याय, डॉ. उमेश मिश्र, डॉ. अमरनाथ झा, डॉ. हरिमोहन झा, रघुनाथ शिरोमणि आदि का नाम नित्य स्मरणीय है। गदाधर को कुछ लोग बंगाली मानते हैं। जो भी हो किन्तु यह निर्विवाद ही है कि इनको ऊँचाई तक ले जाने वाला बिहार ही है। गदाधर को भारतीय तार्किकों का सम्राट कहा गया है। मीमांसा दर्शन के क्षेत्र में मण्डन मिश्र का नाम उल्लेखनीय है। यद्यपि आदिशंकराचार्य से इनकी हार हो गई तथापि शंकर को भी उनकी पत्नी भारती के समक्ष कुछ समय तक स्तब्ध रह जाना पड़ा।

यह सही है कि दोनों अन्त में शंकर का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया किन्तु शंकर दिग्विजय का अन्तिम पड़ाव मण्डन मिश्र ही ठहरे। इनकी पैठ ज्ञान मीमांसा, तत्त्व मीमांसा और आचार मीमांसा पर समान रूप से दृष्टिगत होता है। ये और वाचस्पति मिश्र दोनों पूर्वमीमांसा और उत्तर मीमांसा के प्रकाण्ड पण्डित निकले। इन्होंने शंकर के अरमानों को मंजिल तक पहुंचाया है। अतः हम कह सकते हैं कि बिहार ही भारत को उच्च शिखर पर पहुंचाया है और पहुंचायेगा।

कौटिल्य का नीति दर्शन और अर्थशास्त्र अभी भी दुनियां के लिए प्रेरणादायक हैं। साहित्य के क्षेत्र में विद्यापति का नाम आज भी श्रद्धापूर्वक लेते नजर आते हैं। इनका संगीत बिहार में ही नहीं अन्यत्र भी अभी तक लोग गाते आ रहे हैं और आगे भी गाने की उम्मीदें हैं। इनकी लोकप्रियता के कारण बंगाली बन्धु इन्हें बंगाली कवि भी कहने लगे हैं।

नजर आते हैं। इनका संगीत बिहार में ही नहीं अन्यत्र भी अभी तक लोग गाते आ रहे हैं और आगे भी गाने की उम्मीदें हैं। इनकी लोकप्रियता के कारण बंगाली बन्धु इन्हें बंगाली कवि भी कहने लगे हैं।

आधुनिक इतिहास में वीर कुंवरसिंह और गुरु गोविन्दसिंह को कौन नहीं जानता है। पटना साहेब और कुंवरसिंह का स्मारक आज भी भारतीयों को सबक दे ही रहा है। तभी तो एक कवि कह बैठा कि देश का बेटा बनो कुंवरसिंह और बेटियां लक्ष्मीबाई। देश के प्रत्येक बच्चे को अभी भी कुंवरसिंह बनने की सीख दी जा रही है। बेगूसराय का श्री वाल्मीकि बाबू, स्व. रामचरित्र सिंह, कॉ. चन्द्रशेखर हम बिहारवासियों को ईमानदारी और नीतिसम्मत राजनीति की प्रेरणा दे ही रहे हैं। स्व. लंगटसिंह, स्व. रामनन्दन मिश्र एवं ल. नारायण मिश्र आज भी श्रद्धापूर्वक याद किये जाते हैं। इन्होंने भारतीय स्वाधीनता संग्राम में अहम् भूमिका अदा की है। इनसे भारतीय नागरिकों को प्रेरणा अवश्य लेना चाहिए। ये सब बिहारी हैं, भारत के विकास में इनकी अहम् भूमिका है। हमें स्मरण रखना चाहिए कि भारत की दुर्दशा क्यों हुई, स्पष्ट है कि मध्य युग में बौद्ध धर्म भारत से लुप्तप्रायः हो चुका है। बौद्ध प्रतिपक्षियों के अभाव में हिन्दू दार्शनिक आपस में ही श्रुतियों के उद्धरण व नई व्याख्याएं देते हुए झगड़ते रहे। इसके कारण तर्कानुप्राणित तेज घटने लगा और वात्स्यायन उद्योतकर और वाचस्पति मिश्र के द्वारा स्थापित तेज लुप्तप्राय ही हो गया। डॉ. देवराज ने ठीक ही लिखा है कि मध्ययुग में उनके चिन्तन में अब वह तर्कानुप्राणित तेज नहीं रह गया था, जो वात्स्यायन, उद्योतकर और वाचस्पति मिश्र के समय के नैयायिकों तथा वेदान्तियों में था। विशिष्टाद्वैत भी दार्शनिक दृष्टि से उतना मौलिक व पुष्ट दर्शन नहीं है, जैसे कि न्याय, वैशेषिक, सांख्य और वेदान्त (अद्वैत) के सम्प्रदाय।

यदि उस शुद्रता, स्वार्थपरता, देशद्रोही आदि कुप्रवृत्तियों को मिटा दें और महापुरुषों के द्वारा बताये गये रास्ते को अपनायें और शास्त्र सम्मत आचरण रखें तो निश्चय ही भारत फिर ऊँचाइयों को प्राप्त कर लेगा। इसलिए मैं अपने बिहारी बन्धुओं से निवेदन करता हूँ कि अपने गौरवमय इतिहास को याद करें और अपने से अतिरिक्त राज्यों के नागरिकों को भी इस ओर अग्रसर होने में मदद पहुंचाएं ताकि विश्व में भारत का मस्तक ऊँचा हो अथवा मुकुट के रूप में उभर सके। आज बिहार में नौकरी के लिए शिक्षकों को और पढ़ने के लिए छात्र एवं छात्राओं को अनुदान देना पड़ता है, उन्हें याद रखना चाहिए कि बिहार की दिशा और दशा क्या है? सेवा और कल्याण की भावना एवं क्रिया से दशा और दिशा सुधर सकती है। दरभंगा महाराज आदि दानदाताओं से प्रेरणा लेना आवश्यक है। डॉ. (श्रीमती) पूनम चौधरी ने ठीक ही बतलाया है कि, "A rose worthy point of the Maharajas (Darbhanga Maharaja) and states was to make education a tool of social service and community welfare."

यदि दरभंगा महाराज की तरह आज भी समृद्धशाली एवं प्रबुद्ध नागरिक संस्था का निर्माण करें तो बिहार के अतिरिक्त अन्य राज्यों में भी इसका प्रभाव

पड़ेगा और भारत की दिशा और दशा बदलेगी और तभी भारत का समुचित विकास संभव हो सकेगा। बिहार भारत के विकास में मानव जाति के आध्यात्मिक का पोषण करने के महान् कार्य में राजनीति और धर्म मित्रवत सहभागी हैं। जब हम एक-दूसरे को समृद्ध करने लगेंगे, शक्तिशाली बनाने लगेंगे तभी उस आत्मा का आवरण होगा, जिसकी तलाश आज इस संसार को है। शायद इसीलिए एच. एम. भट्टाचार्य ने कहा है कि—

“In India Philosophy arose from the deeper needs of spiritual life”<sup>145</sup>

स्वामी विवेकानन्द, डॉ. राधाकृष्णन् आदि ने भी सर्वहित एवं सर्व धर्म समभाव की शिक्षा दी है। बिहारियों को यह पहले से प्राप्त है। इन्हें मात्र स्मरण करना है और सम्पूर्ण भारत के विरासत से सीख लेने क प्रेरणा देना है। आज भी मिथिलांचल के वासी जगद्गुरु स्वामी निश्चिछलानन्द जगत् को प्रेरणा दे रहे हैं। प्राचीन काल में भगवान् महावीर की उक्ति—“णाणस्स सारमायारो” आज भी स्मरणीय है। जिस तरह सुकरात की उक्ति “ज्ञान सद्गुण है और सद्गुण ज्ञान है” विश्व के चिन्तनशील प्राणियों के लिए आज भी प्रेरणादायक है, उसी तरह रामधारीसिंह दिनकर का यह कहना कि—

झर गये पंख, हेमेंत झरे,  
पशुता का झरना बाकी है।  
ऊपर—ऊपर तन संवर गये,  
मन का संवरना बाकी है।।

मात्र बिहारियों के लिए ही नहीं या मात्र भारतीयों के लिए ही सीमित नहीं है बल्कि सम्पूर्ण मानवता के लिए चुनौती भी है और मानवीय ज्ञान को अधोमुखी नहीं बल्कि ऊर्ध्वगामी बनाना अथवा आरोहित जीवन की ओर इशारा करना भी है। इस बात की पुष्टि गालिब के निम्नलिखित वक्तव्यों से भी होती है—

इन्सानियत की रोशनी गुम हो गई कहां?  
साये हैं आदमी के मगर आदमी कहां??

वस्तुतः उपर्युक्त बातें हमें मूल्यवादी ज्ञान एवं शिक्षा की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए उत्प्रेरक तत्त्व का काम कर रहे हैं। सामान्यतः हम व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास, सुखी जीवन, समाज, संस्कृति, राष्ट्र एवं विश्व में व्यवस्था, सामंजस्य, शान्ति एवं प्रगति की चाह रखते हैं और ये सब मूल्यों के आचरण और शिक्षा से ही संभव है और और इस दिशा में दिनकर जी ने बिहार की गौरवशाली इतिहास को जिन्दा करने का काम किया है। इतना ही नहीं इन्होंने वर्तमान समय में बुद्ध और महावीर को याद दिलाया है और विश्व को पुनः प्रेरणा लेने के लिए न्यौता भी दिया है।

- <sup>1</sup> हिन्दी साहित्य कोश (नामावली शब्दावली), भाग-2, धीरेन्द्र वर्मा (प्रधान सम्पादक), वाराणसी ज्ञान मण्डल, 1986, पृ. 16.
- <sup>2</sup> ऋग्वेद, 6/33/13
- <sup>3</sup> श्रीमद्भगवद् गीता, अनुवादक-श्री हरिकृष्णदास गोयन्दका, शांकरभाष्य हिन्दी-अनुवाद सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर सं. 2060, पृ. 137-38.
- <sup>4</sup> द प्रिन्सपुल्स ऑफ फिलॉसफी, पृ. 3.
- <sup>5</sup> वही, पृ. 8-9.
- <sup>6</sup> एच.एम. भट्टाचार्य, द प्रिन्सपुल्स ऑफ फिलॉसफी, कलकत्ता, 1959, पृ. 162.
- <sup>7</sup> वही, पृ. 153 (ब्रैडले, Essay on Truth and Reality नामक पुस्तक के 114 पृष्ठ में इसकी विस्तृत चर्चा है।)
- <sup>8</sup> B.N. Roy, Text book of Deductive Logic, 'Knowledge and Its Sources', p. 5.
- <sup>9</sup> C.D. Sharma, A critical survey of Indian philosophy, Motilal Banarasidass, Delhi, 1987, p. 42.
- <sup>10</sup> D.M. Dutta, The Six Way of Knowing, p. 19.
- <sup>11</sup> P.D. Shashtri, The Essentials of Eastern Philosophy, p. 55.  
 बृहस्पति का मत-हम एक प्रत्यक्ष ही को मानते हैं क्योंकि प्रत्यक्ष के बिना अनुमानादि होते ही नहीं। इसलिए मुख्य प्रत्यक्ष के सामने अनुमानादि गौण होने से उनका ग्रहण नहीं करते। (दयानन्द सरस्वती-सत्यार्थ प्रकाश, पृ. 276)  
 प्रत्यक्ष (स.वि.) इन्द्रिय ग्राह्य-जिसका ज्ञान इन्द्रियों द्वारा हो सके।  
 इन्द्रियगोचर-जो आंखों के सामने हो, चार प्रकार के प्रमाणों में से एक जो सबसे श्रेष्ठ माना जाता है (हि.क्रि.वि.) आंखों के सामने। (भार्गव आदर्श हिन्दी शब्द कोश, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ-630)  
 "संकल्प-विकल्पात्मकं मनः"  
 तिलक-गीतारहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र, पृ. 139  
 इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।।  
 न्यायशास्त्र, अध्याय-1, सूत्र-4 उद्धृत.  
 महर्षि दयानन्द सरस्वती, सत्यार्थ प्रकाश, आर्य साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली-1899, पृ. 37  
 जो श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण का शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध के साथ अव्यवहित अर्थात् आवरण रहित सम्बन्ध होता है। इन्द्रियों के साथ मन का और मन के साथ आत्मा के संयोग से ज्ञान उत्पन्न होता है। उसको प्रत्यक्ष कहते हैं। पृ. 37  
 अनुमान की प्रक्रिया में 'व्याप्ति' और 'पक्षधर्मिता' दो अंश मुख्य हैं। 'हेतु' और 'साध्य' के साहचर्य को 'व्याप्ति' कहते हैं। जैसे 'जहां-जहां धुआं होता है, वहां-वहां अग्नि होती है। यह धूम और अग्नि का साहचर्य नियम व्याप्ति कहलाता है। व्याप्ति का ग्रहण हुए बिना अनुमान नहीं हो सकता है। इसलिए व्याप्ति 'अनुमान' का सबसे मुख्य भाग है।  
 काव्य प्रकाश: (श्रीमम्मटाचार्य विरचित काव्य प्रकाश की हिन्दी व्याख्या), व्याख्याकार-स्व. आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, सम्पादक-डॉ. नरेन्द्र, वाराणसी ज्ञानमण्डल लिमिटेड, सं. 2042, पृ. 258
- <sup>12</sup> अष्टावक्र, गीता, पृ. 270
- <sup>13</sup> भारतीय दर्शन, भाग-2, पृ. 69
- <sup>14</sup> श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय-2, श्लोक 60वां, शांकर भाष्य, अनुवादक हरिकृष्णदासे गोयन्दका, पृ. 74.

- <sup>15</sup> एम. हिरियन्ना (अनुवादक डॉ. गोवर्धन भट्ट, श्रीमती मंजु गुप्त, श्री सुखवीर चौधरी), भारतीय दर्शन की रूपरेखा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997, पृ. 195
- <sup>16</sup> वही, पृ. 195
- <sup>17</sup> राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, भाग-2, पृ. 46
- <sup>18</sup> एस.सी. चटर्जी, न्याय थ्योरी ऑफ नॉलेज,
- <sup>19</sup> न्याय भाष्य, 1.1.3
- <sup>20</sup> Text Book of Deductive Logic, p. 6.  
इन्द्रियार्थासन्निकर्षोत्पन्नम् ज्ञानम् अव्यपदर्शम् अव्यभिकारी व्यवसायात्मकम् प्रत्यक्षम् ।  
(*indriyārthasannikarṣōtpannam jñānam avyapadarśam avyabhikārī vyavasāyātmakam pratyakṣam*)  
This *sūtra* may be rendered thus : perception is cognition which arises through sense-organ coming into relation with object and which is non-verbal unerring and of the nature of indubious knowledge.  
– Kappuswami Shastri, *A Primer of Indian Logic*, p. 165.
- <sup>21</sup> चट्टोपाध्याय एवं दत्त, भारतीय दर्शन, पृ. 113
- <sup>22</sup> A Primer of Indian Logic, p. 14.
- <sup>23</sup> राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, भाग-2, पृ. 46  
There are two classes of sentences : those that belong to the *veda* and those that belong to secular.  
–Kappuswami Shastri, *A Primer of Indian Logic*, p. 250.  
Knowledge may be valid or invalid. Valid knowledge (*pramāṇa*) is defined as the right apprehension of an object (*yathārthanubhavaḥ*).  
–C.D. Sharma, *A Critical Survey of Indian Philosophy*, p. 192.  
Gotama defines perception as non-eroneous cognition, which is produced by the inter-course of the sense-organs with the objects, which is not associated with a name and which is well defined.  
–C.D. Sharma, *A Critical Survey of Indian Philosophy*, p. 193.  
Per-cep-tion/n(v) (formal) process by which we become aware of changes (through the senses of sight, hearing etc.); act or power of perceiving.  
–A.S. Horhby, *Oxford Advanced Learner's Dictionary of Current English*, p. 620.
- <sup>24</sup> B.N. Roy, *Text Book of Deductive Logic*, p. 6.
- <sup>25</sup> आनन्द झा, पदार्थशास्त्र, पृ. 86
- <sup>26</sup> A Primer of Indian Logic, p. 14.  
The *Naiyāyika* maintain two stages in perception. The first is called indeterminate or *Nirvikalpa* and the second, determinate or *Savikalpa*. They are not two different kinds of perception, but only the earlier and the later stages in the same complete process of perception.  
–C.D. Sharma, *A Critical Survey of Indian Philosophy*, p. 194.
- <sup>27</sup> सम्पादक-आर.सी. पाठक, भार्गव आदर्श हिन्दी शब्द कोश, द्वितीय खण्ड, पृ. 639.
- <sup>28</sup> पदार्थशास्त्र, पृ. 92
- <sup>29</sup> C.D. Sharma, *A Critical Survey of Indian Philosophy*, p. 196.
- <sup>30</sup> Ibid, p. 197.



<sup>31</sup> Ibid, p. 204.

<sup>32</sup> A Primer of Indian Logic, p. 30.

<sup>33</sup> A Critical Survey of India Philosophy, p. 204.

<sup>34</sup> Ibid, p. 30.

<sup>35</sup> आनन्द झा, पदार्थशास्त्र, पृ. 104.

<sup>36</sup> आनन्द झा, पदार्थशास्त्र, पृ. 104.

<sup>37</sup> A Primer of Indian Logic, p. 30.

<sup>38</sup> चट्टोपाध्याय एवं दत्त, भारतीय दर्शन, पृ. 132

<sup>39</sup> हिन्दी साहित्य कोश, भाग-1, पृ. 26

<sup>40</sup> Kappur Swami, *Pakṣa, Sâdhya and Hetu or Sâdhana*.

<sup>41</sup> कृष्ण स्वामी शास्त्री, ए प्राइमर ऑफ इण्डियन लॉजिक, पृ. 190-191.

<sup>42</sup> हिन्दी साहित्य कोश, भाग-1, पृ. 26

<sup>43</sup> हिन्दी साहित्य कोश, भाग-1, सम्पादक-धीरेन्द्र वर्मा (प्रधान), पृ. 26

<sup>44</sup> भारतीय दर्शन, भाग-2, पृ. 75

Inference or Reasoning (Anumînas) is another source of knowledge. In inference from certain material or data, which are given, we pass on to something which is not given but which can be known through and with the help of the give materials. The data or materials of inference are supplied by immediate apprehension. For examples : We see smoke and know there is fire, we see a man smiling and know he is joyous.

B.N. Roy, *Text Book of Deductive Logic*, p. 7.

<sup>45</sup> भारतीय दर्शन, भाग-2, पृ. 62

<sup>46</sup> हरिमोहन झा एवं मिश्रा (अनुवादक), भारतीय दर्शन, पृ. 126

<sup>47</sup> अनुमान की प्रक्रिया में 'व्याप्ति' और पक्षधर्मता दो अंश मुख्य हैं। अनुमान का दूसरा मुख्य भाग पक्षधर्मता है। 'संदिग्ध साध्यवान् पक्षः' यह पक्ष का लक्षण किया गया है। जिसमें साध्य संदिग्ध अवस्था में रहता है, उसको 'पक्ष' कहते हैं। जैसे जब तक पर्वत में 81 वहिन की सिद्धि नहीं हो जाती है तब तक 'सन्दिग्धसाध्यवान्' होने से इस अनुमान में पर्वत 'पक्ष' कहलाता है। धूमरूप 'हेतु' का इस पक्ष में रहना आवश्यक है। अन्यथा व्याप्ति का ज्ञान रहने पर भी पर्वत पर वहिन की सिद्धि नहीं हो सकती है। धूमादिरूप 'लिङ्ग' की पर्वतरूप पक्ष में स्थिति को ही पक्षधर्मता कहा जाता है।

श्री मम्मटाचार्य, काव्य प्रकाश, (हिन्दी व्याख्या सहित), वाराणसी ज्ञान मण्डल लि., संवत् 2042, पृ. 258-59,

<sup>48</sup> दत्त एवं चट्टोपाध्याय, अनु-झा एवं मिश्रा, पृ. 126

<sup>49</sup> एस. कृष्णस्वामी, ए प्राइमर ऑफ इण्डियन लॉजिक, पृ. 30

<sup>50</sup> राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, भाग-2, पृ. 102.

<sup>51</sup> राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, भाग-2, पृ. 102.

<sup>52</sup> आनन्द झा, पदार्थ शास्त्र, पृ. 99-100

<sup>53</sup> A Primer of Indian Logic, p. 28.

यद्यपि प्रकृत ग्रंथकार एवं टीकाकार ने केवल साधर्म्योपमिति की ही चर्चा की है।

वैधर्म्योपमिति की नहीं, किन्तु साधर्म्योपमिति के समान वैधर्म्योपमिति भी मान्य है।

आनन्द झा, तर्कसंग्रह दीपिका, पृ. 190

The third kind of Valid cognition is *upamita* and its means is called *upmāna*. It is knowledge derived from comparison and roughly corresponds to analogy. C.D. Sharma, A Critical Survey of Indian Philosophy, p. 203.

The fourth kind of valid knowledge is *°abda* or *īgama* or or authoritative verbal testimony. Its means is also called *°abda*. It is defined as the statement of a trust worthy person (*īpta vīkyā*) and consists in understanding its meaning. A sentence is defined as a collection of words and a word is defined as that which is potent to convey its meaning.

—A Critical Survey of Indian Philosophy, p. 204.

<sup>54</sup> पं. आनन्द झा, पदार्थ शास्त्र पृ. 101

<sup>55</sup> तर्क संग्रह—अन्नभट्ट

उपमितिकरणमुपमानम्। संज्ञा—संज्ञिसंबंधज्ञानमुपमितः। तत्करणं, सादृश्यज्ञानम्। तथा हि कश्चिद्गवय शब्दवाच्यमजानन् कुतश्चिदारण्यकपुरुषात् गोसदृशो गवयः इति श्रुत्वा वनं गतो वाक्यार्थं स्मरन् गोसदृशं पिण्डं पश्यति। तदनन्तरं अयं गवच शब्दवाच्य इव्युपमितिरुपपद्यते। इव्युपयानम्। अनुवाद—उपमिति का करण है उपमान। नाम और नामी के बीच होने वाले वाच्य—वाचक—भावात्मक संबंध का ज्ञान है उपमिति। उसका करण होता है सादृश्य का ज्ञान। जैसे गवय पशु से अपरिचित कोई व्यक्ति जब किसी अन्य व्यक्ति से “गवय गाय के जैसा होता है”, ऐसा सुनकर वन जाने पर उक्त वाक्यार्थ का स्मरण करता हुआ गाय के समान पशु को देखता है, तो उसे होने वाला “गवय पद का वाच्य पशु यही है”, यह ज्ञान उपमिति है।

<sup>56</sup> एम. हिरियन्ना (अनुवादक डॉ. गोवर्धन, श्रीमती मंजु गुप्त, श्री सुधवीर चौधरी), भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ. 319

<sup>57</sup> A Primer of Indian Logic, p. 30.

<sup>58</sup> राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, भाग-2, पृ. 104

<sup>59</sup> चट्टोपाध्याय एवं दत्त, भारतीय दर्शन, पृ. 130

<sup>60</sup> A Primer of Indian Logic, p. 153.

<sup>61</sup> कप्पूस्वामी, पृ.

<sup>62</sup> कप्पूस्वामी, पृ. 153.

Testimony and Authority (*sabda*)

Testimony means the evidence of reliable persons. The range of personal experience and inferences from personal experience is extremely limited. Authority implies power to influence opinion and induce belief.

B.N. Roy, *Text Book of Deductive Logic*, p. 7.

आप्रोपदेशः (प्रमाणशब्दः)—(क) यथादृष्टस्यार्थस्यचिरव्यापिषया प्रयुक्तः शब्दः, (ख) प्रकृत वाक्यार्थं यथार्थं ज्ञानं प्रयुक्तः शब्दः। अन्यथा आप्तो यथार्थं उपदेशः शब्द—बोधो यस्मात्। (गो. वृ. 1/1/7)

यथा—ब्रह्म सूत्र न्याय सूत्रादि आप्तोपदेशः।

न्यायकोशः, भीमाचार्य, बंदरकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, 1978, पृ. 126

श्रोत्रग्राह्यो गुणः शब्दः, आकाश मात्र वृत्तिः। संद्विविधः, ध्वन्यात्मकः वर्णारमकश्च। तंत्र ध्वन्यात्मकः भेर्थादौ। वर्णात्मकः संस्कृत भाषादिसपः।।

—A Primer of Indian Logic, p. 10.

सर्वव्यवहारहेतुः ज्ञानं बुद्धिः। सा द्विविधा स्मृति अनुभवश्च 11/09 संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः।। तदिभन्नं ज्ञानमनुभवः। स द्विविधः यथार्थः अयथार्थश्च।।

—A Primer of Indian Logic, p. 12.

<sup>63</sup> Kappuswami Shastri, *A Primer of Indian Logic*, p. 255.

श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणऽभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः।।महाभाष्य।। जिसकी श्रोत्रों से प्राप्ति जो बुद्धि से ग्राह्य करनेयोग्य और प्रयोग से प्रकाशित तथा आकाश जिसका देश है, वह शब्द कहलाता है।

सत्यार्थ प्रकाश—दयानन्द सरस्वती, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, 1988, पृ. 41

श्रुतमतिपूर्व द्वयनेकद्वादशभेदम्।

—तत्त्वार्थ सूत्र—पं. फूलचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री, प्रथम अध्याय, पृ. 37

श्रुतज्ञान की उत्पत्ति इन्द्रियों से न मानकर मन से ही मानी है।

—तत्त्वार्थ सूत्र, प्रथम अध्याय, पृ. 38

लौकिक प्रयोजन की सिद्धि के लिए यदि वह अन्य श्रुत का अवलोकन करता है तो ऐसा करना अनुचित नहीं है, फिर भी उस अभ्यास को परमार्थ कोटि का नहीं माना जा सकता है। उसमें भी जो कथा, नाटक और उपन्यास आदि काम को बढ़ाते हैं, जिनमें नारी को विलास और काम की मूर्ति रूप से उपस्थित करके नारीत्व का अपमान किया गया है, जिनके पढ़ने से मार-काट की शिक्षा मिलती है, मनुष्य मनुष्यता भूलकर पशुता पर उतारू होने लगता है। उनका वाचन, सुनना सर्वथा छोड़ देना चाहिए।

शंका—जबकि विविध दर्शन और धर्म के ग्रन्थ भी श्रुत कहलाते हैं तब फिर उनके पठन—पाठन का निषेध क्यों किया जाता है? मोक्ष मार्ग में प्रयोजक नहीं होने से उनके पठन—पाठन का निषेध किया जाता है।

—तत्त्वार्थ सूत्र—पं. फूलचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री, प्रथम अध्याय, पृ. 42

वैसे ज्ञान को बढ़ाने के लिये और सदधर्म की सिद्धि के लिए उनका ज्ञान प्राप्त करना अनुचित नहीं है। स्व-समय का अभ्यास करने से बाद ही परसमय का अभ्यास करना चाहिये अन्यथा सत्यता से च्युत होने का डर बना रहता है।

—तत्त्वार्थ सूत्र, प्रथम अध्याय, पृ. 42

<sup>64</sup> श्रीमद्भगवद् गीता, अध्याय—18, श्लोक—66

<sup>65</sup> एम. हिरियन्ना (अनुवादक डॉ. गोवर्धन, श्रीमती मंजु गुप्त, श्री सुधवीर चौधरी), भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ. 244

<sup>66</sup> डॉ. एस. राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, भाग—2, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली—6, पृ. 374.

<sup>67</sup> वही, पृ. 389.

<sup>68</sup> एस. राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, भाग—2, पृ. 389.

<sup>69</sup> शास्त्रदीपिका, 1/1/5, पृ. 115

<sup>70</sup> तन्मृषा मोषधर्म यद्भगवानित्यभाषत सर्वे च मोषधर्माणः संस्कारस्तेन ते मृषा। नागार्जुन, मध्यमकशास्त्र 13.1

<sup>71</sup> “इह द्रष्टुरभावाद् द्रष्टव्यदर्शने अषि न स्त इत्युक्तम्। अतः कुतो विज्ञानादिचतुष्टयं विज्ञानस्पर्शवेदनातृष्णाचतुष्टयम्?

तस्मात् सन्ति विज्ञानादीनि।” —प्रसन्नपदा, पृ. 45

<sup>72</sup> प्रमेयकमल मार्तण्ड, पृ. 13

<sup>73</sup> ब्रह्मसूत्र, शां.भा., अध्यासभाष्य, पृ. 13.

- 74 वही, पृ. 13.
- 75 वही, पृ. 13.
- 76 एच.एम. भट्टाचार्य, द प्रिन्सपल्स ऑफ फिलॉसफी, पृ. 162.
- 77 वही, पृ. 161.
- 78 द प्रिन्सपल्स ऑफ फिलॉसफी, पृ. 7-9.
- 79 वही, पृ. 11.
- 80 एच.एम. भट्टाचार्य, द प्रिन्सपल्स ऑफ फिलॉसफी, कलकत्ता युनिवर्सिटी, 1959 ई., पृ. 7
- 81 वाय. मसीह, वर्ल्ड पर्सपेक्टिव, सम्पादक डॉ. रामजीसिंह, पृ. 208.
- 82 डॉ. ब्रजकिशोर झा, प्रमुख राजनीतिक चिन्तक, खण्ड-2, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना, तृतीय संस्करण, 1989, पृ. 15
- 83 वही, पृ. 15
- 84 वही, पृ. 17
- 85 वही, पृ. 284.
- 86 डॉ. जयशंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, बिहार ग्रन्थ अकादमी, पटना, 2004, पृ. 257
- 87 वही, पृ. 259
- 88 सी.ई.एम. जोड, गाइड टू फिलॉसफी, पृ. 108.
- 89 वही, पृ. 111-112
- 90 वही, पृ. 112-113.
- 91 बी. रसेल, हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलॉसफी, जॉर्ज एलेन एण्ड अनविन लि., लंदन, 1957, पृ. 673.
- 92 वही, पृ. 685.
- 93 वही, पृ. 698
- 94 सी.ई.एम. जोड, गाइड टू फिलॉसफी, पृ. 112.
- 95 वही, पृ. 110.
- 96 बी. रसेल, हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलॉसफी, पृ. 604.
- 97 वही, पृ. 604.
- 98 सी.ई.एम. जोड, गाइड टू फिलॉसफी, पृ. 122-123.
- 99 एफ. थिली, ए. हिस्ट्री ऑफ फिलॉसफी
- 100 बी. रसेल, हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलॉसफी, पृ. 731.
- 101 सी.ई.एम. जोड, गाइड टू फिलॉसफी, विक्टर गोलैज लि., लंदन, 1946, पृ. 366.
- 102 वही, पृ. 368.
- 103 बी. रसेल, हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलॉसफी, जॉर्ज एलेन एण्ड अनविन लि., लंदन, 1957 ई., पृ. 731.
- 104 सी.ई.एम. जोड, गाइड टू फिलॉसफी, पृ. 312-313.
- 105 एच.एम. भट्टाचार्य, द प्रिन्सपल्स ऑफ फिलॉसफी, कलकत्ता, 1957, पृ. 147.
- 106 एस.सी. चटर्जी, द प्रॉब्लम ऑफ फिलॉसफी.
- 107 एच.एम. भट्टाचार्य, द प्रिन्सपल्स ऑफ फिलॉसफी, कलकत्ता, 1957, पृ. 140.
- 108 वही, पृ. 145.
- 109 वही, पृ. 162.
- 110 सी.ई.एम. जोड, गाइड टू फिलॉसफी, पृ. 162

- 
- 111 वही, पृ. 183-184.
- 112 वही, पृ. 184.
- 113 वही, पृ. 213.
- 114 वही, पृ. 213-214.
- 115 बी. रसेल, हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलॉसफी, पृ. 698.
- 116 वही, पृ. 698.
- 117 वही, पृ. 699.
- 118 एफ.एस. ब्रैडले (अनुवादक-डॉ. फतेहसिंह), आभास और सत्, हिन्दी समिति सूचना विभाग, लखनऊ, 1964 ई., पृ. 44
- 119 उद्धृत, बी.एन.राय, टेक्स्ट बुक ऑफ इन्डिविडुव लॉजिक, पृ. 173
- 120 वही, पृ. 173
- 121 वही, पृ. 174
- 122 वही, पृ. 159
- 123 वही, पृ. 191
- 124 वही, पृ. 191
- 125 वही, पृ. 194
- 126 वही, पृ. 135
- 127 वही, पृ. 170
- 128 वही, पृ. 171
- 129 डॉ. एस. राधाकृष्णन् (अनुवादक स्व. नन्दकिशोर गोमिल), भारतीय दर्शन (भाग-1), राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली-6, 1973, प्रस्तावना, पृ. 6.
- 130 श्री वादरायण (वेद व्यास), श्रीमद्भगवद् गीता, अध्याय-16, श्लोक-चतुर्थ
- 131 वही, श्लोक-14वां
- 132 डॉ. (श्रीमती) लक्ष्मी सक्सेना (संपा.), समकालीन पाश्चात्य दर्शन, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1991, पृ. 203.
- 133 सी.ई.एम. जोड, गाइड टू फिलॉसफी, पृ. 285.
- 134 श्री वादरायण (वेद व्यास), श्रीमद्भगवद् गीता, अध्याय-2, श्लोक-7
- 135 वही, अध्याय-18, श्लोक-78
- 136 वही, अध्याय-18, श्लोक-50
- 137 गोस्वामी तुलसीदास, श्रीरामचरित्रमानस, बाल काण्ड, गीता प्रेस, गोरखपुर, संवत् 2040, पृ. 92.
- 138 श्री वादरायण (वेद व्यास), श्रीमद्भगवद् गीता, अध्याय-10, श्लोक-34
- 139 वही, अध्याय-4, श्लोक-38
- 140 वही, अध्याय-4, श्लोक-39
- 141 हरिमोहन भट्टाचाय, द प्रिन्सिपल्स ऑफ हिलॉसफी, कलकत्ता, 1959.
- 142 वही, अध्याय-4, श्लोक-38
- 143 वही, अध्याय-4, श्लोक-39
- 144 हरिमोहन भट्टाचाय, द प्रिन्सिपल्स ऑफ हिलॉसफी, कलकत्ता, 1959.
- 145 वही.